महावीर शासन जैनागम ग्रन्थमाला

आवस्सयं

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण तथा परिशिष्ट सहित)

वाचना-प्रमुख
गणाधिपति तुलसी

प्रधान संपादक
आचार्य महाप्रज्ञ
आचार्य महाश्रमण

अनुवादक/विवेचक/संपादक
मुनि विमल कुमार

सहयोगी
मुनि जितेन्द्र कुमार

जैन विश्व भारती
लाडनूं - ३४१ ३०६ (राजस्थान)

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राज.)
फोन नं. : (01581) 226080, 224671
ई-मेल : jainvishvabharati@yahoo.com

Books are available online at
http://books.jvbharati.org

© जैन विश्व भारती, लाडनूं

प्रथम संस्करण : फरवरी 2017

मूल्य : चार सौ रुपये मात्र

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर

₹ 400/-

ĀVASSAYAM

(Text, Sanskrit Rendering and Hindi Version with Notes)

Synod-Chief
GANADHIPATI TULSI

Chief Editor
ACHARYA MAHAPRAJNA
ACHARYA MAHASRAMANA

Translator/Commentator/Editor
Muni Vimal Kumar

Assisted by
Muni Jitendra Kumar

JAIN VISHVA BHARATI
Ladnun - 341 306 (Rajasthan) INDIA

Publisher :
Jain Vishva Bharati
Ladnun - 341306
Nagore (Raj.) India
Ph. : +91 - 1581 - 226080/224671
E-mail : jainvishvabharati@yahoo.com

Books are available online at
http://books.jvbharati.org

© Jain Vishva Bharati, Ladnun

First Edition : February 2017

Price : Four Hundred Rupees Only

Printed at : Payorite Print Media Pvt. Ltd.

₹ 400/-

समर्पण

।।१।।

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आणा-पहाणो जणि जस्स निच्चं।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ।।

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ।।

।।२।।

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।
सज्झाय-सज्झाण-रयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ।।

जिसने आगम-दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से ।।

।।३।।

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ।।

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में मेरे मन में।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ।।

विनयावनत
आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

जैन श्वेताम्बर तेरापंथ धर्मसंघ के नवमाधिशास्ता परमपूज्य आचार्य तुलसी ने आगम सम्पादन का महान संकल्प स्वीकार किया। उनके वाचनाप्रमुखत्व की शीतल छाया में कार्य का शुभारम्भ हुआ। परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने प्रज्ञा-परिश्रम से प्रस्तुत गुरुतर कार्य को आगे बढ़ाया। आज भी वह कार्य चल रहा है। मैं आत्मतोष का अनुभव कर रहा हूं कि हमारे धर्मसंघ के अनेक साधु और साध्वियां इस कार्य की परिसम्पन्नता में अपना योगदान दे रहे हैं।

प्रस्तुत आगम के संपादन में परम श्रद्धेय गुरुदेव तुलसी का महान अनुग्रह रहा है। गुरुदेव श्री आगम संपादक कार्य के वाचना प्रमुख रहे हैं। परमपूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ जी का परिश्रम आगम संपादन के पुनीत कार्य का मेरुदण्ड है। प्राप्त जानकारी के अनुसार प्रस्तुत आगम के अनुवादन संपादन आदि कार्य में शासनश्री मुनिश्री विमलकुमारजी स्वामी का मुख्य परिश्रम रहा है। मुनि जितेन्द्रकुमारजी इस कार्य में सहयोगी रहे हैं। आगममनीषी मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी का भी इस पुनीत कार्य में योगदान रहा है। मैंने भी इसका निरीक्षण किया। सबके प्रति मंगल भावना। हम सभी आगम स्वाध्याय के क्षेत्र में आगे बढ़ते रहें। शुभाशंसा।

२६ सितम्बर २०१६

आचार्य महाश्रमण

प्रकाशकीय

सानुवाद आगम ग्रन्थों के प्रकाशन की महत्त्वपूर्ण योजना के अन्तर्गत निम्न प्रकाशित आगम विद्वानों द्वारा समादृत हो चुके हैं।

१. दसवेआलियं
२. सूयगडो
३. उत्तरज्झयणाणि
४. ठाणं
५. समवाओ
६. अणुओगदाराइं
७. नंदी
८. णायाधम्मकहाओ
९. उवासगदसाओ
१०. निसीहज्झयणं
११. कप्पो
१२. दसाओ
१३. ववहारो

इसी शृंखला के अन्तर्गत 'आवस्सयं' का प्रस्तुत प्रकाशन पाठकों के हाथों में पहुंच रहा है।

इससे पूर्व सानुवाद आगम प्रकाशन की योजना के अन्तर्गत आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा संस्कृत भाषा में निर्मित आचारांगभाष्यम् सन् १९९४ में प्रकाशित हो चुका है। इसके बाद भगवई (विआहपण्णत्ती) खण्ड १,२,३,४,५ मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, भाष्य तथा विविध परिशिष्टों के साथ प्रकाशित हुए। वाचनाप्रमुख गुरुदेव तुलसी के तत्त्वावधान में आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा संपादित सभी आगम ग्रंथ विद्वानों द्वारा भूरि भूरि प्रशंसित हुए हैं।

मूल, संशोधित पाठ, संस्कृत छाया और हिन्दी अनुवाद के साथ-साथ प्रत्येक उद्देशक में विषय-प्रवेश की दृष्टि से आमुख और विस्तृत टिप्पणों से समलंकृत 'आवस्सयं' का यह प्रकाशन आगम-प्रकाशन के क्षेत्र में विशेष स्थान प्राप्त करेगा—ऐसा कहा जा सकता है।

प्रस्तुत आगम में छह अध्ययन हैं। अन्त में दिए गए परिशिष्ट निःसंदेह पाठक की ज्ञानवृद्धि में उपयोगी सिद्ध होंगे।

आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा प्रारब्ध और आचार्य महाश्रमण द्वारा सम्पादित इस आगम के प्रस्तुतीकरण में मुनि विमलकुमारजी और मुनि जितेन्द्रकुमारजी का अच्छा योगदान रहा है।

प्रस्तुत प्रकाशन को पाठकों के सम्मुख रखते हुए जो प्रसन्नता हो रही है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। विश्वास है, यह प्रकाशन अनुसंधित्सु एवं जिज्ञासु विद्वानों के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होगा।

जैन विश्व भारती, लाडनूं

रमेश बोहरा

पुरोवाक्

जो काम अवश्य किया जाए उसका नाम आवश्यक है। आवश्यक क्रिया प्रत्येक व्यक्ति के लिए, प्रत्येक दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न होती है। एक ही वस्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए हर एक दशा में आवश्यक नहीं होती। आत्मसाधक के लिए अपनी त्रुटियों को देखना एवं उनके संशोधन के लिए कुछ न कुछ क्रिया करना आवश्यक है। अतएव इस आत्मचिन्तन का नाम आवश्यक है। प्रस्तुत शास्त्र उस आवश्यक क्रिया का साधन है। इसलिए इसका नाम भी 'आवश्यक सूत्र' है।

३२ आगमों के वर्गीकरण में यह अंतिम आगम ग्रन्थ है। ५०६४ अक्षर प्रमाण वाला यह आगम सभी आगमों में लघुकाय है। आवश्यक एक श्रुतस्कन्ध है। इसके छह अध्ययन हैं। नन्दी की आगम सूची में किसी भी आगम के अध्ययनों के नाम निर्दिष्ट नहीं है, केवल आवश्यक के अध्ययनों के नाम ही निर्दिष्ट हैं। इससे यह सहज ही कल्पना होती है कि आवश्यक का एक ग्रंथ के रूप में संयोजन हो जाने पर भी नन्दी की रचना के समय तक उनके स्वतंत्र अस्तित्व की स्मृति बनी रही। छह अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं–१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान।

आवश्यक आगम लघुकाय होने पर भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है, तभी इसके विशालकाय व्याख्या ग्रन्थों की एक लम्बी सूची है, यथा–आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक भाष्य, आवश्यक चूर्णि, आवश्यक वृत्ति (हरिभद्रकृत), आवश्यक वृत्ति (मलयगिरि), आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका, आवश्यक विवरण, आवश्यक-टिप्पणकम् (मलधारी हेमचन्द्र)।

संभवतः यह एक मात्र आगम ग्रन्थ है जिसे कंठस्थ किए बिना छेदोपस्थापनीय चारित्र की प्राप्ति भी नहीं हो सकती।

जैन धर्म के श्वेताम्बर तेरापंथ संप्रदाय के नवम अधिशास्ता गणाधिपति आचार्यश्री तुलसी के वाचनाप्रमुखत्व में जैन आगमों की वाचना का महान ज्ञानयज्ञ सन् १९५५ में प्रारम्भ हुआ। इनके मूलपाठ आदि के सम्पादक मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ) रहे। विस्तृत विवेचन के साथ आगमों के मूल प्राकृत पाठ, संस्कृत छायानुवाद तथा भावानुवाद के संस्करणों का कार्य प्रधानसम्पादक एवं विवेचक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के निदेशन में हुआ तथा वर्तमान में आचार्यश्री महाश्रमणजी के प्रधानसम्पादकत्व एवं निदेशन में चल रहा है। पूज्यश्री महाश्रमणजी गणाधिपति के समय से ही इस महायज्ञ में अपना समय और अपनी प्रज्ञा को नियोजित किए हुए हैं और आशा है कि आचार्यश्री के नेतृत्व में आगम कार्य निरन्तर गतिमान रहता हुआ यथाशीघ्र परिपूर्णता के लक्ष्य को प्राप्त करेगा।

संक्षिप्त इतिहास

वि.सं. २०४९ में गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी के सान्निध्य में युवाचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने मुझे आवश्यक सूत्र पर कार्य करने के लिए फरमाया। आवश्यक सूत्र की संस्कृत छाया, अनुवाद, टिप्पण लेखन का कार्य आवश्यक निर्युक्ति, चूर्णि तथा हारिभद्रीया वृत्ति के आधार पर शुरु किया। कार्य प्रायः संपन्न होने पर मैंने उसे आचार्यश्री महाप्रज्ञ के कर कमलों में सौंप दिया। आचार्यश्री ने अपेक्षित संशोधन के लिए मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी को दिखाने का निर्देश प्रदान किया। मुनिश्री ने अपना समय नियोजित कर इसे संशोधित किया। सन् २००० के लाडनूं चतुर्मास के पश्चात् गंगाशहर मर्यादा महोत्सव के लिए पधारते समय आचार्यप्रवर ने इस आगम ग्रन्थ का निरीक्षण प्रारम्भ करवाया। पहले दो अध्यायों का निरीक्षण पूज्यश्री ने कराया किन्तु व्यस्तता के कारण कार्य अवरुद्ध हो गया। अनेक वर्षों तक इस ग्रन्थ पर विशेष कार्य नहीं हुआ। सन् २००९ लाडनूं चतुर्मास में पूज्यप्रवर ने इसके पुनः सम्पादन और विवेचन के लिए आगममनीषी मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी के निर्देशन में मुनि जितेन्द्रकुमारजी को नियोजित किया। काफी कार्य पहले किया जा चुका था। आचार्यप्रवर की दृष्टि के अनुसार कुछ टिप्पणों को विस्तृत किया गया। इसी बीच परम पावन आचार्यश्री महाप्रज्ञ का महाप्रयाण हो गया। कुछ महिनों के बाद मुनिश्री दुलहराजजी स्वामी के दिवंगत होने पर पुनः कार्य में शिथिलता आ गई। केलवा चतुर्मास के पश्चात् फाईनल कॉपी तैयार होकर

मेरे हाथों में पहुंची। जितेन्द्र मुनि की मेहनत से वह काफी व्यवस्थित हो चुकी थी। मैंने उस प्रति को देख कर आत्मतोष का अनुभव किया। कार्य की सुसंपन्नता के निवेदन के साथ परम पावन आचार्यश्री महाश्रमण के करकमलों में पाण्डुलिपि अर्पित की गई। प्रस्तुत ग्रन्थ के समग्र वाचन, निरीक्षण, परिमार्जन तथा आवश्यक टिप्पणों के विस्तार के साथ यह आगम अब प्रकाश में आ रहा है।

कृतज्ञता

गणाधिपति गुरुदेव श्री तुलसी की स्मृति आगम के प्रत्येक कार्य के साथ जुड़ी हुई है, जिन्होंने इस पुनीत महायज्ञ में मुझे जोड़ा। संयम जीवन के साथ मुझे आगे अध्ययन-अध्यापन का मौका प्रदान किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञ का आशीर्वाद शब्दों में व्यक्त करना संभव नहीं है। दीक्षा होते ही मुझे उनके चरणों में रहने का सौभाग्य मिला। उनके द्वारा प्राप्त शिक्षा एवं संस्कार मेरे जीवन की अमूल्य धरोहर है। उन्हीं की कृपा और प्रेरणा से मैं इस पुनीत कार्य में जुड़ पाया। इस कार्य में उनका आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं हुआ, अपितु मार्गदर्शन भी निरंतर मिलता रहता। मेरे लिए यह भी परम सौभाग्य का विषय है कि प्रस्तुत आगम ग्रन्थ का कार्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ की प्रज्ञावृष्टि से अभिसिंचित हुआ।

परम पावन पूज्यपाद आचार्यश्री महाश्रमण ने महती कृपा कर इस पूरे ग्रन्थ का अवलोकन एवं परिमार्जन किया। आचार्यश्री का संस्कृत भाषा पर गहरा अधिकार है। पूज्य आचार्यश्री महाप्रज्ञ के महाप्रयाण के पश्चात् आप ही संपूर्ण आगम कार्य रूपी रथ के कुशल सारथि हैं। अनेक आगम ग्रन्थों का प्रकाशन इस छह सालों में हो चुका है। प्रत्येक आगम का प्रकाशन से पूर्व एक-एक अक्षर का श्रवण एवं निरीक्षण कर आप आगम रूपी पाथेय को जनभोग्य बनाते हैं। पूज्यवर का आगम तत्त्वों का ज्ञान विलक्षण है। आपकी दृष्टि सूक्ष्म और मूलस्पर्शी है। अपने बहुमूल्य क्षणों को इस कार्य में नियोजित कर आपने मुझ पर ही नहीं, आगम रसिक लोगों पर भी उपकार किया है। आपकी सूक्ष्म मनीषा से यह आगम परिष्कृत और प्रकाशन योग्य बन पाया है। आचार्यप्रवर के पादाम्बुज में अपनी कृतज्ञता अर्पित करता हुआ यही मंगलकामना करता हूं कि आपके कुशल नेतृत्व में आगम कार्य इसी प्रकार अविराम गति से प्रगति करता हुआ शीघ्र सुसम्पन्नता को प्राप्त करे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की संपूर्ति में श्रद्धेय बहुश्रुत आगममनीषी मुनि दुलहराजजी स्वामी का निर्देशन भी प्राप्त हुआ। मुनिश्री आगम संपादन के कार्य में प्रारंभ से ही जुड़े हुए थे। उन्होंने अनेक आगम ग्रन्थों का अनुवाद-संपादन कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। जीवन के संध्या काल और अस्वास्थ्य की स्थिति में भी प्रस्तुत ग्रन्थ की निष्पन्नता में अपना समय नियोजित किया, यह उनकी महनीय आगम निष्ठा का निदर्शन है। मैं दीक्षित होते ही मुनि नथमल (आचार्यश्री महाप्रज्ञ) के साथ मुनिश्री के संरक्षण में रहा। उनका वात्सल्य और कृपा भाव सदा मुझ पर रहा। मेरे विकास में वे भी अनन्य सहयोगी रहे। उनकी सेवाएं सदा अविस्मरणीय रहेगी।

अंत में मुनि जितेन्द्रकुमारजी को साधुवाद जिन्होंने बहुत वर्ष पूर्व निष्पन्न कार्य को टिप्पणों के विस्तार के साथ साकार रूप दिया। उनके सत्प्रयत्न से यह आगम ग्रन्थ प्रकाशन की स्थिति तक पहुंच पाया। वे अभी छोटे हैं, किन्तु उनमें आगम कार्य के प्रति रूचि प्रगाढ़ है। उनकी यह रुचि प्रगाढ़तम बने। यही शुभाशंसा करता हूं।

समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने भी आवश्यक निर्युक्ति की गाथाओं को शुद्ध करने में अपना श्रम नियोजित किया। उनके प्रति भी मंगलकामना।

पुनश्च गुरुत्रयी का आशीर्वाद, कृपादृष्टि और कृपावृष्टि से ही आगम ग्रन्थ 'आवस्सयं' प्रकाशित हो रहा है। आवश्यक सूत्र में रूचि रखने वाले लोग इसे पढ़ कर आवश्यक को गहराई से समझने का लाभ प्राप्त कर सकें। इसी मंगलकामना के साथ।

मुनि विमलकुमार

भूमिका

वैदिक परम्परा में वेद तथा बौद्धों में त्रिपिटक की भांति जैन परम्परा में आगम का महत्त्व है। आगम ज्ञान के अक्षय कोष हैं। आप्त एवं सर्वज्ञ वचन होने के कारण आगमों में वर्णित ज्ञान की विविध धाराएं अनेक रहस्यों को खोलने वाली हैं। धर्म, दर्शन, समाज, संस्कृति, इतिहास, भूगोल एवं खगोल की विस्तृत जानकारी जैन आगमों में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी है। जीवन को परिष्कृत करने के जो अमूल्य सूत्र जैन आगमों में मिलते हैं, अन्य दुर्लभ हैं। आगमों के रूप में प्राप्त महावीर-वाणी समाज, राष्ट्र एवं परिवार की अनेक समस्याओं को समाहित करने का उपयोगी बन सकती है।

दिगम्बर परम्परा आगमों का लोप मानती है। किन्तु आचार्यों द्वारा रचित कुछ ग्रन्थों को आगम के समान महत्त्व देती है।[१] श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार महावीर-वाणी आज भी ग्यारह अंगों आदि के रूप में सुरक्षित है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासी एवं तेरापंथ बत्तीस आगमों को प्रमाणभूत मानता है–

१. अंग–११	४. मूल–४
२. उपांग–१२	५. आवश्यक–१
३. छेद–४	

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ ग्रंथों को आगम के रूप में स्वीकार करता है, जिसकी सूची इस प्रकार है–

१. अंग–११	४. मूल–४
२. उपांग–१२	५. प्रकीर्णक–१०
३. छेद–६	६. चूलिका–२

कुछ परम्परा ८४ आगमों को स्वीकार करती है।

आगमों का प्राचीनतम वर्गीकरण अंग एवं पूर्व–इन दो भागों में मिलता है। समवायांग में केवल द्वादशांगी का निरूपण है।[२] आर्यरक्षित ने आगम-साहित्य को चार अनुयोगों में विभक्त किया–१. चरणकरणानुयोग २. धर्मकथानुयोग ३. गणितानुयोग ५. द्रव्यानुयोग।[३] आगम-संकलन के समय आगमों को दो वर्गों में विभक्त किया गया–अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य। नंदी में आगम की सारी शाखाओं का वर्णन मिलता है। उसमें काल की दृष्टि से भी आगमों का विभाग किया गया है। दिन और रात्रि के प्रथम एवं अंतिम प्रहर में पढ़े जाने वाले आगम कालिक तथा सभी प्रहरों में पढ़े जाने वाला आगम उत्कालिक कहलाते हैं।[४]

वैदिक परम्परा में वेदों को अपौरुषेय माना गया है, अतः उनका रचना काल निर्धारित नहीं है। अनादिकाल से ज्ञान की परम्परा के रूप में वे संक्रमित होते रहे हैं। विद्वानों ने वर्तमान में उपलब्ध जैन आगमों का काल-निर्धारण किया है फिर भी नंदीसूत्र में जहां समवायांग का परिचय दिया है, वहां स्पष्ट उल्लेख है कि द्वादशांग रूप गणिपिटक कभी नहीं था, ऐसा नहीं कहना चाहिए। कभी नहीं है, ऐसा नहीं कहना चाहिए तथा कभी नहीं होगा, ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, गणिपिटक था, है और रहेगा। यह ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षत, अव्यय, अवस्थित और नित्य है।[५] इसका तात्पर्य यह है कि द्वादशांगी आर्थिक रूप से अनादि है पर शाब्दिक रूप से परिवर्तित होती

१. (क) जय धवला, प्रस्तावना, पृ. ४९
   (ख) धवला टीका भा. १, भूमिका, पृ. १३-३२
२. समवाओ १।२–....इमे दुवालसंगे गणिपिडगे पण्णत्ते,....।
३. दश. अ. चू. पृ. २
४. नंदी ७७,७८
५. वही, १२९

रहती है। सत्य एक ही होता है पर उसकी प्रतिपादन-शैली हर युग में भिन्न होती है।

वर्तमान में उपलब्ध आगमों के रचनाकाल के विषय में अनेक मंतव्य मिलते हैं। फिर भी सामान्यतया कहा जा सकता है कि महावीर-काल से लेकर वि.सं. ५२३ तक भिन्न-भिन्न कालों में आगम ग्रंथों का निर्यूहण एवं रचना हुई है।

आगमों के कर्तृत्व के बारे में विद्वानों में काफी ऊहापोह है। अंगसाहित्य तीर्थंकरों द्वारा उद्गीर्ण और गणधरों द्वारा संहब्ध है। लेकिन ठाणं एवं समवाओ जैसे अंग आगमों में अनेक विषय बाद में प्रक्षिप्त हुए हैं। अनंगप्रविष्ट में कुछ ग्रंथ स्थविर आचार्यों द्वारा प्रणीत हैं, जैसे–प्रज्ञापना सूत्र आदि। कुछ पूर्वों से उद्धृत हैं, जैसे–दशवैकालिकसूत्र आदि।

आवश्यक निर्युक्ति में सूत्र-प्रवर्तन के क्रम का सुंदर निरूपण हुआ है। अर्हत् भगवान् अर्थ रूप में तत्त्वों और सत्य का निरूपण करते हैं तथा गणधर उसे शासन हित के लिए सूत्र रूप में गुम्फित करते हैं।[1]

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद लगभग ८००-१००० वर्ष तक आगमों का व्यवस्थित संकलन, संपादन नहीं हुआ। आगमों की मौखिक परम्परा चली। अंजलि में रखे पानी की भांति मौखिक परम्परा से ज्ञान की परम्परा का क्रमशः क्षीण होना स्वाभाविक ही था। महावीर-वाणी की सुरक्षा एवं उसको व्यवस्थित रूप देने के लिए मुख्य रूप से चार वाचनाएं हुईं। भगवान् के निर्वाण के १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में जैन श्रमणसंघ एकत्रित हुआ, उस समय अनावृष्टि आदि के कारण अंगों का अव्यवस्थित होना सहज था। आपस में एक दूसरे से पूछकर श्रमणों ने ११ अंग व्यवस्थित किए। दृष्टिवाद का ज्ञाता कोई नहीं था। आचार्य भद्रबाहु चतुर्दशपूर्वी थे लेकिन वे महापान (महाप्राण) ध्यान की साधना हेतु नेपाल गए हुए थे। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि मुनियों को दृष्टिवाद की वाचना देनी प्रारम्भ की लेकिन ऋद्धि आदि का प्रयोग करने से उन्होंने उनको अंतिम चार पूर्वों के अर्थ का ज्ञान नहीं दिया। आर्थी दृष्टि से अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु हुए।

द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद वीर निर्वाण की नौवीं शताब्दी में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में मथुरा में श्रमण संघ एकत्रित हुआ और स्मृति के आधार पर कालिक श्रुत तथा पूर्वगत के कुछ अंश का संकलन हुआ। यह वाचना मथुरा में हुई अतः माथुरी वाचना कहलाई।[2]

आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में वलभी में श्रमणसंघ द्वारा आगमों को व्यवस्थित किया गया। इसका भी यही काल है, जो माथुरी वाचना का है। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

वीर निर्वाण के ९८० वर्ष[3] बाद वलभी में आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने स्मृतिबल की क्षीणता को देखकर आगमों को लिपिबद्ध करने का साहसिक कार्य किया। नंदीसूत्र में उन आगमों की सूची मिलती है। उस समय दोनों वाचनाओं में हुए पाठ भेदों में समन्वय करके महत्त्वपूर्ण पाठभेदों का उल्लेख कर दिया गया। नंदी में उल्लिखित अनेक ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं। वर्तमान में उपलब्ध आगम प्रायः वलभी वाचना के हैं।

आवश्यक जैन साधना का प्रायोगिक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। यह अपने दोषों का पर्यालोचन करने तथा उनके परिमार्जन की सुंदर प्रक्रिया प्रस्तुत करता है इसलिए इसे अध्यात्म का उत्कृष्ट ग्रंथ कहा जा सकता है। श्वेताम्बर परम्परा में श्रमणों के लिए यह ध्रुवयोग (नित्यकर्म) है। पर्व तिथियों आदि में श्रावक भी आवश्यक का अनुष्ठान करते हैं। आवश्यक के वैशिष्ट्य एवं महत्त्व का ज्ञान इस बात से किया जा सकता है कि इस पर सर्वाधिक व्याख्या ग्रंथ प्राप्त होते हैं तथा आचार्य भद्रबाहु ने भी सर्वप्रथम इसी ग्रंथ पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा की थी।

निर्युक्तिकार के अनुसार श्रमणों एवं श्रावकों के लिए यह अवश्यकरणीय अनुष्ठान है, इसलिए इसका नाम आवश्यक पड़ा।[4] आवश्यक का एक नाम प्रतिक्रमण भी प्रसिद्ध है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में सायं और प्रातः दोनों समय प्रतिक्रमण करना

---

१. आ नि. गा. ९२–
अत्थं भासंति अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए, तत्तो सुत्तं पवत्तई।।

२. दशवैकालिक भूमिका, पृ. १८

३. मतान्तर से कुछ विद्वान् वीर निर्माण के ९९३ वर्ष बाद स्वीकार करते हैं।

४. विशेषावश्यकभाष्य गा. ८६८–
समणेण सावएण य, अवस्सकातव्वयं हवति जम्हा।
अंतो अहोजिणसस्स तु तम्हा आवस्सयं णाम।।

अनिवार्य है क्योंकि उनके शासन में सप्रतिक्रमण धर्म का निरूपण था।[१] अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के आठ पर्यायवाची नाम मिलते हैं–१. आवश्यक २. अवश्यकरणीय ३. ध्रुवनिग्रह ४. विशोधि ५. अध्ययनषट्क वर्ग ६. न्याय ७. आराधना ८. मार्ग। ये एकार्थक न होकर आवश्यक के स्वरूप, महत्त्व एवं उसके विविध गुणों को प्रकट करने वाले हैं।[२] दिगम्बर मत के अनुसार जो राग तथा द्वेषादि विभावों के वशीभूत नहीं होता वह अवश है, उस अवश का आचरण या कार्य आवश्यक कहलाता है।[३] जो आत्मा में रत्नत्रय का वास कराती है वह क्रिया आवश्यक है।[४] यद्यपि प्रतिक्रमण चौथा आवश्यक है लेकिन वर्तमान में पूरा आवश्यक सूत्र प्रतिक्रमण के नाम से ही प्रसिद्ध है।

आवश्यक में जो शाश्वत आध्यात्मिक तत्त्व निबद्ध हैं वे प्रवाह रूप से अनादि हैं। आवश्यक के कर्त्ता एवं रचना काल के बारे में इतिहास में कोई सामग्री नहीं मिलती। पंडित सुखलालजी के अनुसार आवश्यक सूत्र ईस्वी सन् से पूर्व पांचवीं शताब्दी से लेकर चौथी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचना होना चाहिए।[५] इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि ईस्वी सन् से पूर्व पांच सौ छबीसवें (५२६) वर्ष में भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। वीर निर्वाण के २० वर्ष बाद सुधर्मा स्वामी का निर्वाण हुआ। आवश्यक सूत्र न तो तीर्थंकर की कृति है और न ही गणधर की। तीर्थंकर की कृति इसलिए नहीं क्योंकि वे अर्थ का उपदेश मात्र करते हैं, सूत्र नहीं रचते। आवश्यक सूत्र गणधर रचित न होने का एक कारण यह है कि इस सूत्र की रचना अंगबाह्य सूत्र में है अतः यह सुधर्मा के बाद किसी बहुश्रुत आचार्य द्वारा रचित माना जाना चाहिए।

आवश्यक सूत्र उतना ही पुराना होना चाहिए जितना नमस्कार महामंत्र, क्योंकि आवश्यक निर्युक्ति में नमस्कार मंत्र के पांचों पदों की लगभग १३९ गाथाओं में विस्तृत व्याख्या है। इससे पूर्ववर्ती किसी ग्रंथ में नमस्कार मंत्र पर इतना विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। आवश्यक निर्युक्ति की गाथा १०१४ में[६] पंच परमेष्ठी के नमस्कारपूर्वक सामायिक करने का निर्देश है। यद्यपि इस गाथा से यह फलित निकलता है कि नमस्कार मंत्र भी उतना ही पुराना होना चाहिए जितना सामायिक सूत्र या आवश्यक सूत्र। लेकिन यह गाथा मूल निर्युक्ति की न होकर भाष्यकार की होनी चाहिए क्योंकि चूर्णि में इसकी कोई व्याख्या नहीं है तथा टीकाकार ने इसके लिए संबंध गाथा का संकेत किया है।

आवश्यक के कर्त्ता के बारे में इतिहास मौन है और विद्वानों में भी मतैक्य नहीं है। यह सूत्र किसी एक स्थविर आचार्य की कृति है अथवा अनेक आचार्यों की, इस बारे में स्पष्टतया कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान् इसे किसी एक आचार्य की कृति नहीं मानते। आचार्य भद्रबाहु के सामने भी इसके कर्तृत्व के बारे में कोई जानकारी नहीं थी अन्यथा वे दशवैकालिक की भांति इसके कर्त्ता के नाम का उल्लेख भी अवश्य करते। दशवैकालिक निर्युक्ति में उन्होंने आचार्य शय्यंभव को दशवैकालिक के कर्त्ता के रूप में याद किया है।[७] गणधरवाद की भूमिका में पंडित मालवणियाजी ने आवश्यक के कर्त्ता के बारे में विचार करते हुए इसे गणधर प्रणीत सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।[८]

आचार्य भद्रबाहु ने जिन दस ग्रंथों पर निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की है, उन ग्रंथों को यदि कालक्रम से रचित माने तो आवश्यक आचार्य शय्यंभव से पूर्व किसी स्थविर की कृति होनी चाहिए। लेकिन यह विकल्प उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उत्तराध्ययन के बाद आचारांग का क्रम है। आचारांग प्रथम अंग आगम है तथा गणधर द्वारा संदृब्ध है अतः निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा से जिन आगमों का उल्लेख किया गया है, उन्हें ऐतिहासिक क्रम से रचित नहीं माना जा सकता। आचारांग टीका में उल्लेख मिलता है–

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा १२४४–
सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाणो जिणाणं, कारणजाए पडिक्कमणं।।

२. अनुयोगद्वार १।२८–
आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं, धुवनिग्गहो विसोही य।
अज्झयणछक्कवग्गो, नाओ आराहणा मग्गो।।

३. मूलाचार ५१५–
ण वसो अवसो अवसस्स कम्ममावस्सयं ति बोधव्वा।

४. भगवती आराधना टीका पृ. ११६–
आवासयं ति रत्नत्रयमपि इति आवश्यकाः।

५. दर्शन और चिंतन, खंड २, पृ. १९६

६. आ.नि. गा. १०१४–
कयपंचनमुक्कारो करेइ सामाइयंति साऽभिहिओ।
सामाइअंगमेव य जं सेसं तओवुच्छ।।

७. दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. १३,१४–
सेज्जंभवं गणधरं जिणपडिमादंसणेण पडिबुद्धं।
मणगपियरं दसकालियस्स निज्जूहगं वंदे।।
मणगं पडुच्च सेज्जंभवेण निज्जूहिया दसऽज्झयणा।
वेयालियाइ ठविया तम्हा दसकालियं नामं।।

८. गणधरवाद, भूमिका, पृ. ५-१०

'आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विंशतिस्तवारातीयकालभाविना भद्रबाहुस्वामिनाऽकारि'[1] आचार्य शीलांक के इस उद्धरण से स्पष्ट है चतुर्विंशतिस्तव की रचना आचार्य भद्रबाहु द्वारा की गई। इससे यह फलित निकलता है कि आवश्यक किसी एक आचार्य की रचना न होकर आचार्य भद्रबाहु एवं उनके समकालीन अनेक बहुश्रुत, स्थविर आचार्यों के चिंतन एवं ज्ञान की फलश्रुति है। चूंकि इस ग्रंथ को आत्मालोचन का उत्कृष्ट ग्रंथ बनाना था इसलिए अनेक आचार्यों का सुझाव और चिंतन का योग अपेक्षित था। यदि आवश्यक सूत्र किसी एक आचार्य की कृति होती तो दशवैकालिक के कर्त्ता की भांति इसके कर्त्ता का नाम भी प्रसिद्ध होता क्योंकि यह प्रतिदिन सुबह और सायं स्मरण की जाने वाली कृति है। निष्कर्षतः आवश्यक को अनेक आचार्यों की संयुक्त कृति स्वीकार करना चाहिए।

आवश्यक छह हैं–१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वंदना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान। मूलाचार में कुछ नाम-भेद के साथ छह आवश्यकों के नाम मिलते हैं–१. समता २. स्तव ३. वन्दन ४. प्रतिक्रमण ५. प्रत्याख्यान ६. विसर्ग।[2] छहों आवश्यकों का क्रम बहुत वैज्ञानिक और क्रमबद्ध है। टीकाकार शान्त्याचार्य के अनुसार विरति सहित व्यक्ति के ही सामायिक संभव है। विरति और सामायिक दोनों एक साथ उत्पन्न होते हैं। जब तक हृदय में समता का अवतरण नहीं होता तब तक समता के शिखर पर स्थित वीतराग के गुणों का उत्कीर्तन कर उनके गुणों को अपनाने की दिशा में प्रस्थान नहीं हो सकता। प्रमोदभाव या गुणग्राहकता का विकास होने पर ही व्यक्ति अपने से ज्ञानी या वन्दनीय व्यक्ति के चरणों में शिर झुकाता है। झुकने वाला व्यक्ति स्वतः नम्र एवं सरल बन जाता है। सरल व्यक्ति ही कृत दोषों की आलोचना कर सकता है अतः वन्दना के बाद प्रतिक्रमण आवश्यक का क्रम उपयुक्त है। पंडित सुखलालजी के अनुसार वन्दन के पश्चात् प्रतिक्रमण को रखने का आशय यह है कि आलोचना गुरु के समक्ष की जाती है। जो गुरु-वन्दन नहीं करता, वह आलोचना का अधिकारी ही नहीं।[3] दोषों के परिमार्जन में कायोत्सर्ग आवश्यक है। तन और मन की स्थिरता सधने पर प्रतिक्रमण अर्थात् दोषों का परिमार्जन स्वतः हो जाता है। व्यक्ति के भीतर जब स्थिरता एवं एकाग्रता सधती है तभी वह वर्तमान में अकरणीय का प्रत्याख्यान करता है अथवा भविष्य में भोगों की सीमा हेतु संयमित होने का व्रत लेता है। संभव है इसीलिए प्रत्याख्यान को अन्तिम आवश्यक के रूप में रखा है। सभी आवश्यक आपस में कार्य-कारण की शृंखला से बंधे हुए हैं अतः एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। पंडित सुखलालजी ने क्रम के बारे में विस्तार से चर्चा की है।[4] कुन्दकुन्द के साहित्य में षडावश्यक के नाम भिन्न मिलते हैं–१. प्रतिक्रमण २. प्रत्याख्यान ३. आलोचना ४. कायोत्सर्ग ५. सामायिक ६. परम भक्ति।

अनुयोगद्वार सूत्र में आवश्यक के अधिकारों का प्रयोग मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।[5] प्रथम सामायिक आवश्यक में पापकारी प्रवृत्ति से दूर रहकर समतापूर्वक जीवन जीने का संकल्प किया जाता है। दूसरे चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में सर्वोच्च शिखर पर स्थित महापुरुषों के गुणों की स्तवना की जाती है। इससे अंतःकरण की विशुद्धि होने के कारण दर्शन की विशुद्धि होती है।[6] अनुयोगद्वार चूर्णि के अनुसार दर्शनविशोधि, बोधिलाभ और कर्मक्षय के लिए तीर्थंकरों का उत्कीर्तन करना चाहिए।[7] तृतीय वन्दना आवश्यक गुणयुक्त गुरुजनों की शरण एवं उनकी वन्दना की बात कहता है जिससे उनके गुण व्यक्ति के भीतर संचरित हो सके और अहंकार का विलय हो सके। जयधवला के अनुसार तीर्थंकर को नमस्कार करना वन्दना है।[8] वन्दना से जीव सौभाग्य, अप्रतिहत आज्ञाफल और सबके मन में अपने प्रति अनुकूलता का भाव पैदा करता है। साथ ही निम्न गोत्र का क्षय कर उच्च गोत्र का बंधन करता है।[9] चौथे प्रतिक्रमण में कृत दोषों की आलोचना की जाती है, जिससे प्रतिदिन होने वाले प्रमाद का परिष्कार और शोधन होता रहे। प्रतिक्रमण से जीव व्रत के छिद्रों को ढकता है।[10] कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चित्तोचित्त कार्यों का विशोधन करता है। कायोत्सर्ग व्यक्ति को निर्भार

---

१. आचारांग टी. पृ. ५६

२. मूलाचार १/२२–
समता थवो य वंदण, पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं।
पच्चक्खाण विसग्गो, करणीयावासया छप्पि।।

३. पंच प्रतिक्रमण, प्रस्तावना, पृ. १४

४. दर्शन और चिन्तन, खंड २, पृ. १८०-१८२

५. अनुयोगद्वार ३/७४–
सावज्ज जोग विरई, उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स निंदणा, वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव।।

६. उत्तराध्ययन २९/१०–चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ।

७. अनुयोगद्वार चू.पृ. १८–बितिए दरिसणविसोहिनिमित्तं पुण बोधिलाभत्थं च कम्मखवणत्थं च तित्थगराणामुक्कित्तणा कता।

८. तित्थययस्स णमंसणं वंदणा णाम।

९. उत्तराध्ययन २९/११–वंदएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्च गोयं निबंधइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वेत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ।

१०. उत्तराध्ययन २९/१२–पडिक्कमणेणं वय छिद्दाइं पिहेइ।

और प्रशस्त ध्यान में उपयुक्त करता है।[१] उत्तराध्ययन सूत्र में कायोत्सर्ग को सब दुःखों से मुक्त करने का हेतु माना है।[२] अंतिम प्रत्याख्यान आवश्यक के माध्यम से भविष्य में गलती न करने के संकल्प की अभिव्यक्ति की जाती है, जिससे इच्छाओं का निरोध तथा संवर की शक्ति का विकास होता रहे।[३] प्रत्याख्यान गुणधारण करने का उत्तम उपाय है। आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार आवश्यक के बिना श्रमण चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है।[४]

भगवान् ऋषभ के समय में प्रतिदिन आवश्यक होता था, बीच के बावीस तीर्थंकरों के मुनि स्खलना होने पर आवश्यक करते थे, इस उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि आवश्यक की परम्परा अति प्राचीन है लेकिन इसका स्वरूप बदलता रहा है। वर्तमान में आवश्यक का जो पाठ मिलता है, उसमें भिन्न-भिन्न परम्पराओं में काफी अंतर है। आवश्यक की विधि में भी मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरापंथी और दिगम्बर परम्परा में बहुत अन्तर आ गया है। वर्तमान स्वरूप में मूल कितना है और प्रक्षेप कितना है, इसका निर्णय निर्युक्तिकार द्वारा की गई पाठों की व्याख्या के आधार पर किया जा सकता है।

निर्युक्ति की व्याख्या के अनुसार कुछ परम्पराओं में प्रतिक्रमण से पूर्व किये जाने वाले चैत्य-वन्दन आदि तथा नमोत्थुणं के बाद किये जाने वाले सज्झाय, स्तवन, स्तोत्र आदि आवश्यक के अंतर्गत नहीं है, इनका बाद में प्रक्षेप हुआ है। क्योंकि गुजराती, अपभ्रंश, राजस्थानी या हिन्दी का पाठ मौलिक नहीं माना जा सकता। मूल आवश्यक में भी इनका उल्लेख नहीं है।

सामान्य जन द्वारा प्राकृत भाषा को न समझने की कठिनाई देखकर आचार्य तुलसी ने श्रावक प्रतिक्रमण के अतिचारों का हिन्दी पद्यों में सरस रूपान्तरण कर दिया तथा साधु प्रतिक्रमण के अतिचारों का भी न केवल हिन्दी रूपान्तर किया बल्कि उन अतिचारों को आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में भी प्रस्तुत किया है।

मूल पाटियों के रूपान्तरण से मौलिकता की सुरक्षा नहीं रहती इसलिए उनको यथावत् रखा है। जैसे मंत्रों का अनुवाद उतना प्रभावक नहीं होता, वैसे ही आवश्यक के मूलपाठ का अनुवाद नहीं किया। दूसरी बात अनुवाद से आवश्यक की विधि में भी एकरूपता नहीं रहती। अतिचार तो आत्मालोचन के हेतु हैं अतः किसी भी भाषा में बोले जा सकते हैं। ऐसा संभव लगता है कि अतिचारों का स्वरूप समय-समय पर बदलता रहा है। बहुश्रुत आचार्य देश, काल और परिस्थिति के अनुसार इनमें परिवर्तन करते रहे हैं।

मुनि विमलकुमार

---

१. उत्तराध्ययन २९।१३–काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वयहियए ओहरियभारो व्वं भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहंसुहेणं विहरइ।

२. उत्तराध्ययन २६/४९–काउस्सग्गं तओ कुज्जा सव्वदुक्ख-विमोक्खणं।

३. उत्तराध्ययन २९/१४–पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुभइ।

४. नियमसार, गा. १४८–
आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो।।

संदर्भ ग्रंथ : संकेतसूची

अनु. चू.	अनुयोगद्वार चूर्णि	दश. अ. चू.	दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि
अनु. म.वृ.	अनुयोगद्वार मलयगिरिवृत्ति	दश. जि. चू.	दशवैकालिक जिनदासकृत चूर्णि
आ. चू.	आवश्यक चूर्णि	दश. नि.	दशवैकालिक निर्युक्ति
आ. नि.	आवश्यकनिर्युक्ति	वि. भा.	विशेषावश्यकभाष्यम्
आ. नि. दी.	आवश्यकनिर्युक्ति दीपिका	भ. वृ.	भगवती वृत्ति
आ. हा. वृ.	आवश्यक हारिभद्रीय वृत्ति	वि. भा. म. वृ.	विशेषावश्यक मलयगिरि वृत्ति

उपोद्घात

मूलपाठ	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
से किं तं आवस्सयं? आवस्सयं छव्विहं पण्णत्तं, तं जहा–सामाइयं चउवीसत्थओ वंदणयं पडिक्कमणं काउस्सग्गो पच्चक्खाणं। से त्तं आवस्सयं।	अथ किं तत् आवश्यकम्? आवश्यकं षड्विधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा– सामायिकं चतुर्विंशस्तवः वन्दनकं प्रतिक्रमणं कायोत्सर्गः प्रत्याख्यानम्। तदेतत् आवश्यकम्।	वह आवश्यक क्या है? आवश्यक छह प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे– सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दनक, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान। वह यह आवश्यक है।
आवस्सयस्स णं इमे अत्थाहिगारा भवंति, तं जहा– **१. सावज्जजोगविरई २. उक्कित्तणं** **३. गुणवओ य पडिवत्ती** **४. खलियस्स निंदणा ५. वणतिगिच्छ** **६. गुणधारणा चेव।।१।।**	आवश्यकस्य इमे अर्थाधिकारा भवन्ति, तद् यथा– १. सावद्ययोगविरतिः २. उत्कीर्तनं ३. गुणवतश्च प्रतिपत्तिः ४. स्खलितस्य निन्दनं ५. व्रणचिकित्सा ६. गुणधारणा चैव।।१।।	आवश्यक के ये अर्थाधिकार[1] होते हैं, जैसे– १. सावद्ययोगविरति, २. उत्कीर्तन, ३. गुणवान् की प्रतिपत्ति, ४. स्खलित की निंदा ५. व्रणचिकित्सा, ६. गुणधारणा।
तस्स णं इमे एगट्ठिया नाणाघोसा नाणावंजणा नामधेज्जा भवंति, तं जहा– **आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं,** **धुवनिग्गहो विसोही य।** **अज्झयणछक्कवग्गो,** **नाओ आराहणा मग्गो।।१।।**	तस्य इमानि एकार्थिकानि नानाघोषाणि नानाव्यञ्जनानि नामधेयानि भवन्ति, तद् यथा– आवश्यकम् अवश्यकरणीयं, ध्रुवनिग्रहः विशोधिश्च। अध्ययनषट्कवर्गः, न्यायः आराधना मार्गः।।१।।	उसके ये नानाघोष[2] और नाना व्यंजन[3] वाले एकार्थिक नाम होते हैं, जैसे– आवश्यक,[4] अवश्यकरणीय, ध्रुवनिग्रह,[5] विशोधि,[6] अध्ययनषट्कवर्ग,[7] न्याय,[8] आराधना[9] और मार्ग[10]।
समणेण सावएण य, **अवस्सकायव्वं हवइ जम्हा।** **अंतो अहोनिसस्स उ,** **तम्हा आवस्सयं नाम।।२।।**	श्रमणेन श्रावकेण च, अवश्यकर्तव्यं भवति यस्मात्। अंतः अहर्निशं तु, तस्माद् आवश्यकं नाम।।२।।	यह श्रमण और श्रावक द्वारा दिन-रात के सन्धिकाल में अवश्यकरणीय है, इसलिए इसका नाम आवश्यक है।

टिप्पण

1. आवश्यक के अर्थाधिकार

१. सामायिक– सावद्ययोगविरति–अठारह पाप का प्रत्याख्यान
२. चतुर्विंशतिस्तव– उत्कीर्तन– चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति
३. वन्दना– गुणवान् की प्रतिपत्ति– गुणिजनों की प्रतिपत्ति-वंदना, विनम्र व्यवहार
४. प्रतिक्रमण– स्खलित की निंदा
५. कायोत्सर्ग– व्रण-चिकित्सा

६. प्रत्याख्यान– गुणधारणा– विशिष्ट गुणों का आधान।

१. सामायिक के **विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य २/२ का टिप्पण।**

२. चतुर्विंशतिस्तव के **विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य चतुर्विंशतिस्तव अध्ययन का आमुख।**

३. वंदना के **विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य वन्दना अध्ययन का आमुख।**

४. प्रतिक्रमण के **विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य प्रतिक्रमण अध्ययन का आमुख।**

५. कायोत्सर्ग के **विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य कायोत्सर्ग अध्ययन का आमुख।**

६. प्रत्याख्यान के **विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य प्रत्याख्यान अध्ययन का आमुख।**

2. नानाघोष (नाणाघोसा)

जिसमें उदात्त, अनुदात्त आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के घोष होते हैं।[1]

3. नाना व्यञ्जन (नाणावंजणो)

जिसमें ककार आदि अक्षर भिन्न-भिन्न हैं।[2]

4. आवश्यक (आवस्सयं)

जो श्रमण आदि के द्वारा अवश्य किया जाता है अथवा जिसके द्वारा ज्ञान आदि गुण या मोक्ष प्राप्त किया जाता है, वह आवश्यक है।[3]

5. ध्रुवनिग्रह (धुवनिग्गहो)

ध्रुव शब्द के दो अर्थ हैं– कर्म अथवा संसार। इसका अर्थ है– संसार का निग्रह करने वाला।[4] अनुयोगद्वार चूर्णि में ध्रुव शब्द के द्वारा कर्म, कषाय और इन्द्रिय आदि का संग्रहण किया है। आवश्यक के द्वारा इनका निग्रह होता है इसलिए इसे ध्रुवनिग्रह कहते हैं।[5]

6. विशोधि (विसोही)

कर्म से मलिन आत्मा की विशुद्धि होती है इसलिए इसे विशोधि कहा जाता है।[6]

7. अध्ययनषट्कवर्ग (अज्झयणछक्कवगगो)

आवश्यक छह अध्ययन का समूह है इसलिए इसे अध्यनषट्कवर्ग कहा जाता है।[7]

8. न्याय (नाओ)

अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि का उपाय अथवा जीव और कर्म के संबंध का अपनयन करने वाला।[8]

9. आराधना (आराहणा)

आवश्यक मोक्ष की आराधना का हेतु है, अतः इसे आराधना कहा जाता है।[9]

10. मार्ग (मग्गो)

आवश्यक मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है अतः इसे मार्ग कहा जाता है।[10]

ध्रुवनिग्रह.....मार्ग

इन सभी शब्दों के विस्तृत विवेचन के लिए **द्रष्टव्य– अणुओगदाराइं प्रकरण १ सूत्र २८ का टिप्पण।**

---

१. अनु.म.वृ. प. २८– 'नानाघोषाणि' पृथग्भिन्नोदात्तादिस्वराणि।
२. अनु.म.वृ.पृ. २८
नानाव्यंजनानि–पृथग्भिन्नककाराद्यक्षराणि।
३. वही, पृ. २८
श्रमणादिभिरवश्यं क्रियत इति निपातनादावश्यकम्, अथवा ज्ञानादिगुणा मोक्षो वा आसमन्ताद् वश्यः क्रियतेऽनेनेत्यावश्यकम्।
४. वही, पृ. २८
ध्रुवं–कर्म तत्फलभूतः संसारो वा तस्य निग्रहहेतुत्वान्निग्रहो ध्रुवनिग्रहः।
५. अनु. चूर्णि, पृ. १४
कम्ममट्ठविहं कसाया इंदिया वा धुवा इमेण जम्हा तेसिं णिग्गहो कज्जइ तम्हा धुवनिग्गहो, अवस्सं वा णिग्गहो।
६. अनु.म.वृ. पृ. २८
कर्ममलिनस्याऽऽत्मनो विशुद्धिहेतुत्वाद् विशुद्धिः।
७. अनु. चूर्णि, पृ. १४
८. अनु.म.वृ.पृ. २८
अभीष्टार्थसिद्धेः सम्यगुपायत्वाद् न्यायः अथवा जीवकर्म-सम्बन्धापनयान्न्यायः।
९. वही, पृ. २८
मोक्षाराधनाहेतुत्वादाराधना।
१०. वही, पृ. २८
मोक्षपुरप्रापकत्वादेव मार्गः।

पढमं अज्झयणं : पहला अध्याय

सामाइयं : सामायिक

आमुख

नमस्कार महामन्त्र का मूल स्रोत और कर्त्ता

नमस्कार महामन्त्र आदि-मंगल के रूप में अनेक आगमों और ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अभयदेवसूरि ने भगवती सूत्र की वृत्ति के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र की व्याख्या की है। प्रज्ञापना के आदर्शों में प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र लिखा हुआ मिलता है। किन्तु मलयगिरि ने प्रज्ञापना वृत्ति में उसकी व्याख्या नहीं की। षट्खंड के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र मंगल सूत्र के रूप में उपलब्ध है। इन सब उपलब्धियों से उसके मूल स्रोत का पता नहीं चलता। महानिशीथ में लिखा है कि पंचमंगल महाश्रुतस्कंध का व्याख्यान सूत्र की निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों में किया गया था और वह व्याख्यान तीर्थंकरों के द्वारा प्राप्त हुआ था। कालदोष से वे निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियां विच्छिन्न हो गईं। फिर कुछ समय बाद वज्रस्वामी ने नमस्कार महामन्त्र का उद्धार कर उसे मूल सूत्र में स्थापित किया। यह बात वृद्ध सम्प्रदाय के आधार पर लिखी गई है।[1] इससे भी नमस्कार मंत्र के मूल स्रोत पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

आवश्यक निर्युक्ति में वज्रसूरि के प्रकरण में उक्त घटना का उल्लेख भी नहीं है। वज्रसूरि दस पूर्वधर हुए हैं। उनका अस्तित्वकाल ई.पू. पहली शताब्दी है। शय्यंभवसूरि, चतुर्दश पूर्वधर हुए हैं और उनका अस्तित्वकाल ई.पू. ५-६ शताब्दी हैं। उन्होंने कायोत्सर्ग को नमस्कार के द्वारा पूर्ण करने का निर्देश किया है।[2] दशवैकालिक सूत्र की दोनों चूर्णियों और हारिभद्रीयवृत्ति में नमस्कार की व्याख्या 'णमो अरहंताणं' मंत्र के रूप में की है।[3]

आचार्य वीरसेन ने षट्खंडागम के प्रारम्भ में दिये गए नमस्कार मंत्र को निबद्धमंगल बतलाया है।[4] इसका फलित यह होता है कि नमस्कार महामन्त्र के कर्त्ता आचार्य पुष्पदन्त हैं। आचार्य वीरसेन ने यह किस आधार पर लिखा, इसका कोई अन्य प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। जैसे भगवती सूत्र की प्रतियों के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र लिखा हुआ था और अभयदेवसूरी ने उसे सूत्र का अंग मानकर उसकी व्याख्या की, वैसे ही आचार्य पुष्पदन्त को उसका कर्त्ता बतला दिया। आचार्य पुष्पदन्त का अस्तित्व-काल वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी (ई. पहली शताब्दी) है। खारवेल का शिलालेख ई.पू. १५२ का है। उसमें 'नमो अरहंताणं', 'नमो सवसिधानं'— ये पद मिलते हैं। इससे नमस्कार महामंत्र का अस्तित्व-काल आचार्य पुष्पदन्त से बहुत पहले चला जाता है। शय्यंभवसूरि का दशवैकालिक में प्राप्त निर्देश भी इसी ओर संकेत करता है। भगवान् महावीर दीक्षित हुए तब उन्होंने सिद्धों को नमस्कार किया था।[5] उत्तराध्ययन के बीसवें अध्ययन के प्रारम्भ में **'सिद्धाणं नमो किच्चा, संजयाणं च भावओ'**— सिद्ध और साधुओं को नमस्कार किया गया है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार की परिपाटी बहुत पुरानी है, किन्तु भगवान् महावीर के काल में पंच मंगलात्मक नमस्कार प्रचलित था या नहीं— इस प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर देना सरल नहीं है। महानिशीथ के उक्त प्रसंग के आधार पर कहा जा सकता है कि वर्तमान स्वरूप वाला

१. महानिशीथ, अध्ययन ५, अभिधानराजेन्द्र, पृ. १८३५— इओ य वच्चंतेणं कालेणं समएणं महड्ढिपत्ते पयाणुसारी वइरसामी नाम दुवालसंगसुअहरे समुप्पन्ने। तेण य पंच मंगलमहासुयक्खंधस्स उद्धारो मूलसुत्तस्स मज्झे लिहिओ.....एस वुड्ढसंपयायाओ।

एयं तु पंचमंगलमहासुयक्खंधस्स वक्खाणं तं महया पबंधेण अणंतगमपज्जवेहिं सुत्तस्स य पियभूयाहिं णिज्जुत्तिभासचुन्नीहिं जहेव अणंतनाणदंसणधरेहिं तित्थयरेहिं वक्खाणियं तहेव समासओ वक्खाणिज्जंतं आसि। अहन्नयाकालपरिहाणिदोसेणं ताओ णिज्जुत्तिभासचुन्नीओ वुच्छिन्नाओ।

२. दसवेआलियं ५।१।९३— णमोक्कारेण पारित्ता।

३. (क) अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०३— 'नमो अरहंताणं' ति एतेण वयणेण काउस्सग्गं पारेत्ता।

(ख) जिनदास चूर्णि, पृ. १८९

(ग) हारिभद्रीयावृत्ति पत्र १८०— नमस्कारेण पारयित्वा नमो अरहंताणं इत्यनेन।

४. षट्खंडागम, खंड १, भाग १, पुस्तक १, पृ. ४२— इदं पुण जीवट्ठाणं णिबद्धमंगलं। एत्तो इमेसिं चोद्दसण्हं जीवसमासाणं इदि एदस्स सुत्तस्सादीए णिबद्ध 'णमो अरहंताणं' इच्चादि देवदाणमोक्कारदंसणादो।

५. आयारचूला १५।३२— सिद्धाणं णमोक्कारं करेइ।

नमस्कार महामंत्र भगवान् महावीर के समय में प्रचलित था। किन्तु उसकी पुष्टि के लिए कोई दूसरा प्रमाण अपेक्षित है। आवश्यकनिर्युक्ति में एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। निर्युक्तिकार ने लिखा है– 'पंच परमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करनी चाहिए। यह पंच नमस्कार सामायिक का ही एक अंग है।'[१] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि नमस्कार महामंत्र उतना ही पुराना है, जितना सामायिक सूत्र। सामायिक आवश्यक का प्रथम अध्ययन है। नंदी में आयी हुई आगम की सूची में उसका उल्लेख है। नमस्कार महामंत्र का वहां एक श्रुतस्कन्ध या महाश्रुतस्कन्ध के रूप में कोई उल्लेख नहीं है। इससे भी अनुमान किया जा सकता है कि यह सामायिक अध्ययन का एक अंगभूत रहा है। सामायिक के प्रारम्भ में और उसके अन्त में पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया जाता था। कायोत्सर्ग के प्रारम्भ और अंत में भी पंच नमस्कार की पद्धति प्रचलित थी। आचार्य भद्रबाहु के अनुसार नंदी और अनुयोगद्वार को जानकर तथा पंचमंगल को नमस्कार कर सूत्र को प्रारम्भ किया जाता है।[२] संभव है इसीलिए अनेक आगम-सूत्रों के प्रारम्भ में नमस्कार महामन्त्र लिखने की पद्धति प्रचलित हुई। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने उसी आधार पर नमस्कार महामन्त्र को सर्वश्रुतान्तर्गत बतलाया।[३] उनके अनुसार पंच नमस्कार करने पर ही आचार्य सामायिक आदि आवश्यक और क्रमशः शेषश्रुत शिष्यों को पढ़ाते थे। प्रारम्भ में नमस्कार महामंत्र का पाठ देने और उसके बाद आवश्यक का पाठ देने की पद्धति थी।[४] इस प्रकार अन्य सूत्रों के प्रारम्भ में भी नमस्कार मंत्र का पाठ किया जाता था। इस दृष्टि से उसे सर्व-श्रुताभ्यन्तरवर्ती कहा गया। फिर भी नमस्कार मंत्र को जैसे सामायिक का अंग बतलाया है, वैसे किसी अन्य आगम का अंग नहीं बताया गया है। इस दृष्टि से नमस्कार महामंत्र का मूलस्रोत सामायिक अध्ययन ही प्रतीत होता है।

नमस्कार महामन्त्र के पद

कुछ आचार्यों ने नमस्कार महामंत्र को अनादि बतलाया है। यह श्रद्धा का अतिरेक ही प्रतीत होता है। तत्त्व या अर्थ की दृष्टि से कुछ भी अनादि हो सकता है। उस दृष्टि से द्वादशांग गणिपिटक भी अनादि है, किन्तु शब्द या भाषा की दृष्टि से द्वादशांग गणिपिटक भी अनादि नहीं है, फिर नमस्कार महामंत्र अनादि कैसे हो सकता है? हम इस बात को भूल जाते हैं कि जैन आचार्यों ने वेदों की अपौरुषेयता का इसी आधार पर निरसन किया था कि कोई भी शब्दमय ग्रन्थ अपौरुषेय नहीं हो सकता, अनादि नहीं हो सकता। जो वाङ्मय है, वह मनुष्य के प्रयत्न से ही होता है और जो प्रयत्नजन्य होता है, वह अनादि नहीं हो सकता। नमस्कार महामंत्र वाङ्मय है।इसे हम यदि अनादि मानें तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व के निरसन का कोई अर्थ ही नहीं रहता।

नमस्कार महामंत्र जिस रूप में आज उपलब्ध है, उसी रूप में भगवान् महावीर के समय में या उनसे पूर्व भगवान पार्श्व आदि तीर्थंकरों के समय में उपलब्ध था या नहीं, इस पर निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, फिर भी इस संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भगवान् महावीर के समय में 'नमो सिद्धाणं'– यह पद प्रचलित रहा हो और फिर आवश्यक की रचना के समय उसके पांच पद किये गए हों। भगवान् महावीर के समय में आचार्य और उपाध्याय की व्यवस्था नहीं मिलती। उसका विकास उनके निर्वाण के बाद हुआ है और संभव है कि 'नमो आयरियाणं', 'नमो उवज्झायाणं'– ये पद उसी समय नमस्कार मंत्र के साथ जुड़े हों। नमस्कार महामन्त्र के पदों को लेकर जो चर्चा प्रारम्भ हुई थी, उससे इस बात की सूचना मिलती है। चर्चा का एक पक्ष यह था कि नमस्कार महामंत्र संक्षिप्त और विस्तार– दोनों दृष्टियों से ठीक नहीं है। यदि इसका संक्षिप्त रूप हो तो 'णमो सिद्धाणं', 'णमो लोए सव्वसाहूणं'– ये दो ही पद होने चाहिए। यदि इसका विस्तृत रूप हो तो इसके पांच के अधिक पद होने चाहिए। जैसे– नमो केवलीणं, नमो सुयकेवलीणं, नमो ओहिनाणीणं, नमो मणपज्जवनाणीणं आदि-आदि।

दूसरे पक्ष का चिन्तन यह था कि अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय नियमतः साधु होते हैं, किन्तु साधु नियमतः अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय नहीं होते। कुछेक साधु अर्हत् आदि होते हैं।[५] साधु को नमस्कार करने में वह फल प्राप्त नहीं होता, जो अर्हत् को नमस्कार करने

---

१. आ. नि. गाथा ६४५/२–
कयपंचनमोक्कारो, करेति सामाइयं ति सोऽभिहितो।
सामाइयंगमेव य, जं सो सेसं ततो वोच्छं।।

२. वही, गाथा ६४५/१–
नंदि-अणुओगदारं, विधिवदुवग्घाइयं च नाऊणं।
काऊण पंचमंगल, आरंभो होति सुत्तस्स।।

३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ९;
सो सव्वसुतक्खंधब्भंतरभूतो जओ ततो तस्स।
आवासयाणुयोगादिगहणगहितोऽणुयोगो वि।।

४. वही, गाथा ८

५. आ. नि. गाथा ६४०–
अरहंतादी नियमा, साधू साधू य तेसु भइयव्वा।
तम्हा पंचविधो खलु, हेतुनिमित्तं हवइ सिद्धो।।

में होता है। इस दृष्टि से नमस्कार महामंत्र के पांच पद किये गए हैं।[1] उत्तरपक्ष का तर्क बहुत शक्तिशाली नहीं है, फिर भी इस प्रसंग से द्विपक्षीय चिन्तन की सूचना अवश्य मिल जाती है। कर्त्ता की अपनी-अपनी अपेक्षा होती है। जिस समय अर्हत्, आचार्य और उपाध्याय का महत्त्व बढ़ गया था, उस समय महामन्त्र के कर्त्ता उनको स्वतन्त्र स्थान कैसे नहीं देते ?

नमस्कार महामन्त्र के पदों का क्रम

नमस्कार महामन्त्र के पदों का क्रम भी चर्चित रहा है। क्रम दो प्रकार का होता है– पूर्वानुपूर्वी और पश्चनुपूर्वी। पूर्व पक्ष का कहना है कि नमस्कार महामन्त्र में ये दोनों प्रकार के क्रम नहीं हैं। यदि पूर्वानुपूर्वी क्रम हो तो 'णमो सिद्धाणं', 'णमो अरहंताणं' ऐसा होना चाहिए। यदि पश्चानुपूर्वी क्रम हो तो 'णमो लोए सव्वसाहूणं'– यहां से वह प्रारम्भ होना चाहिए और उसके अन्त में 'णमो सिद्धाणं' होना चाहिए।[2] उत्तर पक्ष का प्रतिपादन यह रहा कि नमस्कार महामन्त्र का क्रम पूर्वानुपूर्वी ही है। इसमें क्रम का व्यत्यय नहीं है। इस क्रम की पुष्टि के लिए निर्युक्तिकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि सिद्ध अर्हत् के उपदेश से ही जाने जाते हैं। वे ज्ञापक होने के कारण हमारे अधिक निकट हैं, अधिक पूजनीय हैं, अत: उनको प्रथम स्थान दिया गया।[3] आचार्य मलयगिरि ने एक तर्क और प्रस्तुत किया कि अर्हत् और सिद्ध की कृतकृत्यता में दीर्घकाल का व्यवधान नहीं है। उनकी कृतकृत्यता प्राय: समान ही है।[4] आत्म-विकास की दृष्टि से देखा जाए तो अर्हत् और सिद्ध में कोई अन्तर नहीं होता। आत्म-विकास में बाधा डालने वाले चार घात्य कर्म ही हैं। उनके क्षीण होने पर आत्म-स्वरूप पूर्ण विकसित हो जाता है। विकास का एक अंश भी न्यून नहीं रहता। केवल भवोपग्राही कर्म शेष रहने के कारण अर्हत् शरीर को धारण किए रहते हैं। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि अर्हत् से सिद्ध बड़े हैं। नैश्चयिक दृष्टि से बड़े-छोटे का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह प्रश्न मात्र व्यावहारिक है। व्यवहार के स्तर पर अर्हत् का प्रथम स्थान अधिक उचित है। अर्हत् या तीर्थंकर धर्म के आदिकर होते हैं। धर्म का स्रोत उन्हीं से निकलता है। उसी में निष्णात होकर अनेक व्यक्ति सिद्ध बनते हैं। अत: व्यवहार के धरातल पर धर्म के आदिकर या महास्रोत होने के कारण जितना महत्त्व अर्हत् का है, उतना सिद्ध का नहीं। प्रथम पद में अर्हत् शब्द के द्वारा केवल तीर्थंकर ही विवक्षित हैं, अन्य केवली या अर्हत् विवक्षित नहीं हैं। यदि नैश्चयिक दृष्टि की बात होती तो सामान्य केवली या सामान्य अर्हत् को पांचवे पद में, सब साधुओं की श्रेणी में नहीं रखा जाता। आचार्य और उपाध्याय तीसरे-चौथे पद में हैं और केवली पांचवे पद में। इसका व्यावहारिक हेतु उपयोगिता ही है।

यह प्रश्न किया गया कि आचार्य अर्हत् के भी ज्ञापक होते हैं, इसलिए 'णमो आयरियाणं' यह प्रथम पद होना चाहिए। इसके उत्तर में निर्युक्तिकार ने कहा– 'आचार्य अर्हत् की परिषद् होते हैं। कोई भी व्यक्ति परिषद् को प्रणाम कर राजा को प्रणाम नहीं करता।'[5] अर्हत् और सिद्ध दोनों तुल्य-बल हैं, इसलिए उनमें पौर्वापर्य का विचार किया जा सकता है, किन्तु परमनायक अर्हत् और परिषत्-कल्प आचार्य में पौर्वापर्य का विचार नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम सामायिक है। सामायिक का अर्थ समभाव है।[6] वह सावद्य योग की विरति से प्राप्त होता है। हिंसा आदि असत् आचरण का त्याग इस बात का सूचक है कि अमुक व्यक्ति में समभाव उदित हुआ है और समभाव का उदय निश्चित ही व्यक्ति को हिंसा आदि असत् आचरणों से विरत करता है। राग और द्वेष विषम भाव उत्पन्न करते हैं उनका न होना समभाव है। यह आत्मस्थता की स्थिति है और आत्मस्थता ही सामायिक है।

---

१. आ. नि. गाथा ६४०, मलयगिरिवृत्ति पत्र ५५२-५५३

२. वही, गा. ६४१–
पुव्वाणुपुव्वि न कमो, नेव य पच्छाणुपुव्वि एस भवे।
सिद्धाईया पढमा, बितियाए साधुणो आदी।।

३. वही, गा. ६४२–
अरिहंतुवदेसेणं, सिद्धा नज्जंति तेण अरहाई।।

४. वही, मलयगिरिवृत्ति, पत्र ५५३

५. आ. नि. गा. ६४२; न वि कोई वि परिसाए पणमित्ता पणमई रण्णो।

६. अनु.चू. पृ. १८–जं पढमं सामादियं ति अज्झयणं, तं च समभावलक्खणं।

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

सामाइयं : सामायिक

मूल पाठ	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
नमुक्कार-सुत्तं	नमस्कार-सूत्रम्	नमस्कार-सूत्र
१. नमो अरहंताणं	नमः अर्हद्भ्यः	नमस्कार[1] अर्हतों को[2]
नमो सिद्धाणं	नमः सिद्धेभ्यः	नमस्कार सिद्धों को[3]
नमो आयरियाणं	नमः आचार्येभ्यः	नमस्कार आचार्यों को[4]
नमो उवज्झायाणं	नमः उपाध्यायेभ्यः	नमस्कार उपाध्यायों को[5]
नमो लोए सव्वसाहूणं।	नमः लोके सर्वसाधुभ्यः।	नमस्कार लोक में सर्व-साधुओं को।[6]

टिप्पण

सूत्र-१

1. नमस्कार (नमो)

प्राकृत में आदि में 'न' का 'ण' विकल्प से होता है, इसलिए नमो, णमो–ये दोनों रूप मिलते हैं। यहां 'नमो' रूप ग्रहण किया गया है।

2. अर्हत् (अरिहन्त)

अर्हत् शब्द के प्राकृत रूप 'अरिहंत' और 'अरहंत'– दोनों बनते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में इन दोनों रूपों की व्याख्या की गई है–

अरिहन्त– अष्ट कर्म सब जीवों के शत्रु हैं। कर्म रूप शत्रुओं का हनन करने वाले।[1]

निर्युक्तिकार ने अरि और हन्त– ये दो शब्द मानकर शाब्दिक दृष्टि से यह अर्थ किया है। किन्तु वास्तव में ये दो शब्द नहीं हैं। प्राकृत व्याकरण के अनुसार अर्ह धातु के दो रूप बनते हैं– अरहइ, अरिहइ। अरहंताणं और अरिहंताणं ये दोनों 'अर्ह' धातु के शतृ प्रत्ययान्त रूप हैं।[2]

अरहन्त– वंदन, नमस्कार, पूजा, सत्कार तथा सिद्धिगमन की योग्यता से सम्पन्न।[3]

वीरसेनाचार्य ने अरहंताणं पद के चार अर्थ किए हैं–

१. अरि का हनन करने के कारण अरिहंत।

२. रज का हनन करने के कारण अरिहंत।

३. रहस्य के अभाव से अरहंत।

४. अतिशय पूजा की अर्हता होने के कारण अरिहंत।[4]

प्रथम तीन अर्थ अरि+हंता–इन दो पदों के आधार पर किए गए हैं और चौथा अर्थ अर्ह धातु के अर्हता के आधार पर किया गया है।

---

१. आ. नि. गा. ५८३/२;
अट्ठविधं पि य कम्मं, अरिभूतं होइ सव्वजीवाणं।
तं कम्ममरिं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति।।

२. प्राकृत व्याकरण, ८/२/११।

३. आ.नि. गा. ५८३/३;
अरहं ति वंदणनमंसणाणि अरहं ति पूय-सक्कारं।
सिद्धिगमणं च अरहा, अरहंता तेण वुच्चंति।।

४. षट्खण्डागम धवला पु. १, खं. १, भाग १, सू. १–अरिहननादरिहन्ता।....रजोहननाद् वा अरिहंता।....रहस्याभावाद् वा अरहंता.....अतिशयपूजार्हत्वाद् वार्हन्तः।

भगवती सूत्र की वृत्ति में अरुहंताणं पाठ व्याख्यात है। अभयदेवसूरी ने इसका अर्थ 'अपुनर्भव' किया है।[१]

कुन्दकुन्दाचार्य के साहित्य में 'अरुह' का प्रयोग प्राप्त होता है।[२]

आचार्य हेमचन्द्र ने उपलब्ध प्रयोगों के आधार पर अर्हत् शब्द के तीन रूप सिद्ध किए हैं–अरुहो, अरहो, अरिहो।[३]

डॉ. पिशेल ने अरहा, अरिहा, अरुहो और अरिहन्त का विभिन्न भाषाओं की दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत किया है[४]–

अरहा, अरहन्त	–	अर्द्धमागधी
अरिहा	–	शौरसेनी
अरुहा	–	जैन महाराष्ट्री
अलिहंताणं	–	मागधी

अर्हतों को नमस्कार क्यों करना चाहिए– इस प्रश्न का समाधान देते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं– अर्हत् सम्यग् दर्शन, चारित्र वाले मार्ग का निरूपण करते हैं। यह मार्ग मुक्ति की प्राप्ति का हेतु बनता है।[५]

अर्हतों को नमस्कार करने से जीव को सहस्रों भव नहीं करने पड़ते तथा उसे बोधि की प्राप्ति होती है।[६] अर्हत्-नमस्कार भवक्षय करने वाले जीवों के लिए विस्रोतसिका– अपध्यान का वारक है।[७]

अर्हत् तीन प्रकार के होते हैं–

१. अवधिज्ञानी अर्हत्।

२. मनःपर्यवज्ञानी अर्हत्।

३. केवलज्ञानी अर्हत्।[८]

यहां अर्हत् का अर्थ है– तीर्थंकर, तीर्थ की स्थापना करने वाले केवलज्ञानी **(विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य भगवती सू. १/१ का भाष्य)**

3. सिद्ध (सिद्ध)

जो जिसमें पारंगत अथवा निष्णात हो जाता है, जिसे पुनः साधने की आवश्यकता नहीं होती, वह सिद्ध है।[९]

वे सिद्ध-जीव अरूप, सघन (एक-दूसरे से सटे हुए) और ज्ञान-दर्शन में सतत उपयुक्त होते हैं। उन्हें वैसा सुख प्राप्त होता है, जिसके लिए संसार में कोई उपमा नहीं है।[१०]

सिद्ध के आठ एकार्थक हैं[११]–

१. सिद्ध–कृतकृत्य

२. बुद्ध–सर्वज्ञाता

३. पारगत–संसार समुद्र से पारगामी, तीर्ण

४. परम्परागत–दर्शन, ज्ञान, चरण की क्रमबद्ध साधना के द्वारा मुक्त होने वाला।

५. उन्मुक्त-कर्मकवच–सब कर्मों से मुक्त।

६. अजर–वय और बुढ़ापे से मुक्त

७. अमर–मृत्यु से मुक्त

८. असंग–सब क्लेशों से मुक्त।

निर्युक्तिकार ने सिद्ध शब्द के चौदह निक्षेप किए हैं[१२]–

१. नामसिद्ध

२. स्थापना सिद्ध

३. द्रव्यसिद्ध– पका हुआ अन्न आदि।

४. कर्मसिद्ध– जो सब कार्यों में कुशल होता है अथवा किसी एक कार्य में निपुण होता है।[१३]

५. शिल्पसिद्ध– जो सब प्रकार के शिल्पों अथवा किसी एक शिल्प में कुशल होता है।[१४]

६. विद्यासिद्ध– जो सब प्रकार की विद्याओं का अधिपति

---

१. भगवती वृ. १/१ अरुहंताणमित्यपि पाठान्तरं, तत्र आरोहद्भ्यः अनुपजायमानेभ्यः क्षीणकर्मबीजत्वात्।

२. बोधपाहुड गा. ३१,३४

३. हेमशब्दानुशासन, ८/२/१११–उच्चार्हति।

४. पिशेल, प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पारा १४०

५. आ.हा.वृ. (प्र), पृ. २५६– अर्हतां नमस्कारार्हत्वे मार्गः– सम्यग्-दर्शनादिलक्षणो हेतुः, यस्मादसौ तैः प्रदर्शितस्तस्माच्च मुक्तिः।

६. आ.नि. गा. ५८४;
अरहंतनमुक्कारो, जीवं मोएति भवसहस्साओ।
भावेण कीरमाणो, होति पुणो बोधिलाभाए।।

७. वही, गा. ५८५–
अरहंतनमुक्कारो, धन्नाण भवक्खयं करेंताणं।
हिय यं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होइ।।

८. ठाणं, ३/५१४– तओ अरहा पण्णत्ता, तं जहा– ओहिणाण अरहा, मणपज्जवणाण अरहा, केवलणाण अरहा।

९. (क) आ.चू. (प्र), पृ. ५३९– जो जस्स पारं गतो सो सिद्धो भवति।
(ख) आ.हा.वृ. (प्र), पृ. २७२–सिद्ध्यति स्म सिद्धः, यो येन गुणेन निष्पन्नः-परिनिष्ठितो न पुनः साधनीयः सिद्धौदनवत् स सिद्धः।

१०. उत्तराध्ययन ३६/६६–
अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसण्णिया।
अउलं सुहं संपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ।।

११. आ.नि. गा. ६०९–
सिद्ध त्ति य बुद्ध त्ति य, पारगत त्ति य परंपरगत त्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा असंगा य।।

१२. आ.हा.वृ. (प्र.) पृ. २७२– स च सिद्धशब्दसामान्याक्षेपतः अर्थतस्तावच्चतुर्दशविधः, तत्र नामस्थापनाद्रव्यसिद्धान् व्युदस्य शेषनिक्षेपप्रतिपादनायाह–
कम्मे सिप्पे य विज्जाय, मंते जोगे य आगमे।
अत्थ-जत्ता-अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय।। आव.नि.गा. ५८८

१३. आ.नि.गा. ५८८/२–
जो सव्वकम्मकुसलो, जो वा जत्थ सुपरिनिट्ठितो होति।
सज्झगिरिसिद्धओ विव, स कम्मसिद्धो त्ति विन्नेयो।।

१४. वही, गा. ५८८/३–
जो सव्वसिप्पकुसलो, जो जत्थ व सुपरिनिट्ठितो होति।
कोकासवड्ढई विव, सातिसओ सिप्पसिद्धो सो।।

होता है अथवा महापुरुष द्वारा प्रदत्त किसी एक महाविद्या को साध लेता है।[१]

७. मंत्रसिद्ध– जिसने सभी मंत्रों को अथवा अनेक मंत्रों को अथवा किसी एक प्रधान मंत्र को अपने अधीन कर लिया है।[२]

जिस मंत्र में देवता स्त्री हो वह विद्या है और जिसमें देवता पुरुष हो वह मंत्र है। विद्या ससाधन होती है और मंत्र साधनरहित होता है।[३]

८. योगसिद्ध– जो अनेक द्रव्यों के आश्चर्यकारी योगों– मिश्रणों को जानता है अथवा किसी एक आश्चर्यकारी योग का ज्ञाता होता है।[४]

९. आगमसिद्ध– जो बारह अंगों का पारगामी होता है।[५] आगमसिद्ध पुरुष स्वयम्भूरमण समुद्र में मत्स्य आदि जो चेष्टा करते हैं, उसको भी उपयोगपूर्वक जान लेता है। वह असंख्येय भवों को जानता है अथवा प्रश्नकर्त्ता के पूछने पर तद्भव का वृत्तान्त बताने में समर्थ होता है।[६]

१०. अर्थसिद्ध– जिसके पास प्रचुर अर्थ (धन) है।[७]

११. यात्रासिद्ध– जो स्थलमार्गों और जलमार्गों पर सदा निर्विघ्न रूप से यात्रा कर लेता है तथा जो बारह बार समुद्र की यात्रा में प्रयोजन सिद्ध कर सकुशल लौट आता है वह यात्रासिद्ध है। उसको अन्य सामुद्रिक यात्री भी आदर्श मानते हैं तथा अपनी सामुद्रिक यात्रा की सिद्धि के लिए उसका मार्गदर्शन लेते हैं।[८]

१२. अभिप्रायसिद्ध– अभिप्राय अर्थात् बुद्धि। जिसकी बुद्धि विपुल, विमल, सूक्ष्म होती है तथा जो औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कर्मजा, पारिणामिकी बुद्धि से सम्पन्न होता है, वह बुद्धिसिद्ध है।[९]

१३. तपसिद्ध– जो तपस्या में खिन्न नहीं होता।[१०]

१४. कर्मक्षयसिद्ध– आठ कर्म प्रकृतियों के क्षय होने पर सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है, इसलिए उसे कर्मक्षयसिद्ध कहते हैं।[११]

कर्मक्षयसिद्धों को जिस सुख की प्राप्ति होती है, वह देवताओं और मनुष्यों को भी उपलब्ध नहीं है। यदि समस्त देवों के सुखों को पिंडीभूत किया जाये तो भी वे कर्मक्षयसिद्धों के अनन्तवें भाग के भी बराबर नहीं हो सकते तथा अनन्त वर्गों में विभक्त होने पर भी सम्पूर्ण लोकाकाश में नहीं समा सकते।[१२]

प्रस्तुत प्रसंग में कर्मक्षय सिद्ध आत्माओं को नमस्कार किया गया है। निर्युक्तिकार के अनुसार कर्मक्षय सिद्ध आत्माओं को भावपूर्वक नमस्कार करने से अनेक लाभ होते हैं[१३]–

१. जन्म-मरण से छुटकारा,

२. संबोधि की प्राप्ति,

३. अपमार्ग का परिहार।

निर्युक्तिकार ने सिद्धों को नमस्कार करने का हेतु– अविघ्नपूर्वक

---

१. आ.नि., गा. ५८८/५–
विज्जाण चक्कवट्टी, विज्जासिद्धो स जस्स वेगा वि।
सिज्झेज्ज महाविज्जा, विज्जासिद्धोऽज्जखउडोव्व।।

२. वही, गा. ५८८/६–
साहीणसव्वमंतो, बहुमंतो वा पहाणमंतो वा।
नेओ स मंतसिद्धो, खंभागरिसुव्व साइतिसओ।।

३. वही, गा. ५८८/४–
इत्थी विज्जाऽभिहिता, पुरिसो मंतो त्ति तव्विसेसोऽयं।
विज्जा ससाहणा वा, साहणरहितो य मंतो त्ति।।

४. वही, गा. ५८८/७–
सव्वे वि दव्वजोगा, परमच्छेरयफलाऽहवेगो वि।
जस्सेह होज्ज सिद्धो, स जोगसिद्धो जहा समितो।।

५. (क) वही, गा. ५८८/८–
आगमसिद्धो सव्वंगपारओ गोत्तमोव्व गुणरासी।
(ख) आ.हा.वृ. (प्र.) पृ. २७५–आगमसिद्धः 'सर्वाङ्गपारगः' द्वादशाङ्गविदितभावः।

६. आ.हा.वृ. (प्र) पृ. २७५–
तत्थागमसिद्धो किर, सयंभुरमणेऽवि मच्छगाईया।
जं चिट्ठंति स भगवं, उवउत्तो जाणई तं पि।।

७. आ.नि., गा. ५८८/८–
पउरत्थो अत्थपरो, व मम्मणो अत्थसिद्धो त्ति।।

८. आ.हा.वृ. (प्र) पृ. २७६– यो नित्यसिद्धयात्रः, किमुक्तं भवति ? – स्थलजलचारिपथेषु सदैवाविसंवादितयात्र इति, ...पढमं तावजो किर बारसवाराओ समुद्दं ओग्गाहित्ता कयकज्जो आगच्छइ, सो जत्तासिद्धो, तं अन्नेऽवि जन्तगा जत्तासिद्धिनिमित्तं पेच्छंति।

९. आ.नि. गा. ५८८/९,१०–
..... अभिप्पाओ बुद्धिपज्जाओ।।
विउला विमला सुहमा, जस्स मती जो चउव्विधाए वा।
बुद्धीए संपन्नो, स बुद्धिसिद्धो इमा सा य।।

१०. वही, गा. ५८८/२५–न किलम्मति जो तवसा सो तवसिद्धो।

११. (क) आ.चू. (प्र.) पृ. ५६८–
कम्मक्खयसिद्धो जो अट्ठण्हं कम्मपगडीणं खएणं सिद्धो।
(ख) आ.नि.गा. ५८८/२५
सो कम्मक्खयसिद्धो, जो सव्वक्खीणकम्मंसो।।

१२. वही, गा. ६०२-०४–
न वि अत्थि माणुसाणं, तं सुक्खं नेव सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं, अव्वाबाहं उवगताणं।।
सुरगणसुहं समत्तं, सव्वद्धापिंडितं अणंतगुणं।
न य पावति मुत्तिसुहं ऽणंताहि वि वग्गवग्गूहिं।।
सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धा पिंडितो जइ हवेज्जा।
सोऽणंतवग्गभइतो, सव्वागासे न माएज्जा।।

१३. वही, गा. ६११,६१२–
सिद्धाणं नमोक्कारो, जीवं मोएति भवसहस्सातो।
भावेण कीरमाणो, होइ पुणो बोधिलाभाए।।
सिद्धाणं नमोक्कारो, धन्नाण भवक्खयं कुणंताणं।
हिययं अणुम्मुयंतो, विसोत्तियावारओ होति।।

बताया है।[१] सिद्धों की शाश्वतता को जानकर प्राणी संसार से विमुख हो मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं।

आवश्यक चूर्णिकार ने एक प्रश्न उपस्थित किया है– सिद्धों को अर्हतों से पहले नमस्कार करने का हेतु क्या है? इस विषय में उनका समाधान इस प्रकार है– अर्हत् उपदेशक हैं। उनके उपदेश से ही सिद्धों का परिचय प्राप्त होता है। इसलिए वे पहले नमस्करणीय हैं।[२]

4. आचार्य (आयरिओ)

जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य– इन पांच प्रकार के आचार का स्वयं आचरण करता है, दूसरों के लिए उसका प्ररूपण करता है तथा आचरणीय का स्वयं प्रयोग कर दूसरों को दिखलाता है, वह आचार्य है।[३] आचार्य को नमस्कार करने का हेतु है– आचार। आचार्य को आचार का आचरण और उसका प्रतिपादन करते हुए देखकर प्राणी आचार के ज्ञाता तथा अनुष्ठाता होते हैं।

स्थानांग तथा दशाश्रुतस्कंध में आठ गणि-संपदाओं– आचार्य की संपदाओं का उल्लेख है[४]–

१. आचारसम्पदा– संयम की समृद्धि,
२. श्रुतसम्पदा– श्रुत की समृद्धि,
३. शरीरसम्पदा– सब इन्द्रियों और अवयवों की परिपूर्णता,
४. वचनसम्पदा– वचन-कौशल,
५. वाचनासम्पदा– अध्यापन-पटुता,
६. मतिसम्पदा– बुद्धि-कौशल,
७. प्रयोगसम्पदा– वाद-कौशल,
८. संग्रह-परिज्ञा सम्पदा– संघ-व्यवस्था में निपुणता।

सम्पदाओं के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– ठाणं ८/१५ का टिप्पण।

5. उपाध्याय (उवज्झाय)

जो अर्हत्प्रणीत बारह अंगों की वाचना देते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।[५]

उपाध्याय के दो पर्यायवाची नाम हैं– १. उपाध्याय, २. उज्झा। इसी का अपभ्रंश रूप है– ओझा।

उपाध्याय का कार्य इस प्रकार है[६]–

१. शिष्यों को सूत्र की वाचना देना। २. जागरूकतापूर्वक ध्यान करना। ३. स्व-पर के हित का चिन्तन करना।

उपाध्याय को नमस्कार करने का हेतु है– ज्ञान के प्रति उनकी विनयशीलता।[७]

6. साधु (साहू)

जो निर्वाण साधक योगों– सम्यग् दर्शन आदि की साधना करते हैं और सब प्राणियों के प्रति समभाव रखते हैं, वे साधु हैं।[८]

साधुओं को नमस्कार करने का हेतु है– सहायत्व। वे मुमुक्षु व्यक्तियों की मोक्ष-प्राप्ति में सहयोगी बनते हैं। वे संयम पथ पर चलने वाले असहाय व्यक्तियों के सहायक होते हैं।[९]

नमस्कार महामंत्र के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य–आमुख तथा श्रीभिक्षुआगमविषय कोश खण्ड १–'नमस्कार महामंत्र'।

---

१. आ.नि.गा. ५८१–
मग्गो अविप्पणासो, आयारे विणयया सहायत्तं।
पंचविधनमुक्कारं, करेमि एतेहिं हेऊहिं।।

२. आ.चू. (प्र), पृ. ५८८– जेण अरहंताणं उवदेसेणं सिद्धा णज्जंति तेण उवदेसग त्ति पुव्विं कता, ततो सिद्धा गुरू, कमेण च सेसगा वि।

३. आ.नि.गा. ६१५/१–
पंचविधं आयारं, आयरमाणा तहा पभासेंता।
आयारं दंसेंता, आयरिया तेण वुच्चंति।।

४. (क) ठाणं, ८/१५– अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता, तं जहा– आचारसंपया, सुयसंपया, सरीरसंपया, वयणसंपया, वायणासंपया, मतिसंपया, पओगसंपया, संगहपरिण्णा णाम अट्ठमा।
(ख) दसाओ. ४/३

५. आ.नि. गा. ६२२–
बारसंगो जिणक्खातो, सज्झाओ कहितो बुहे।
तं उवइसंति जम्हा, उज्झाया तेण वुच्चंति।।

६. (क) वही, गा. ६२४–
उ त्ति उवओगकरणे, व त्ति य पावपरिवज्जणे होति।
झ त्ति य झाणस्स कते, उ त्ति य ओसक्कणा कम्मे।।
(ख) वि.भा. गा. ३१९८-३१९९–
उ त्ति उवओगकरणे, ज्झत्ति य ज्झाणस्स होइ निद्देसे।
एएण होइ उज्झा, एसो अण्णो वि पज्जाओ।।
उवगम्म जओऽहीयइ, जं चोवगयमज्झयार्विति।
जं चोवायज्झाया, हियस्स तो ते उवज्झाया।।

७. वही, गा. २९४४ की वृत्ति–उपाध्यायानां तु नमस्कारार्हत्वे विनयता विनयो हेतुः, यतस्तान् स्वयं विनीतान् प्राप्य कर्मविनयनसमर्थस्य ज्ञानादिविनयस्यानुष्ठातारो भवन्ति।

८. आ.नि. गा. ६३१–
निव्वाणसाहए जोगे, जम्हा साधेंति साधुणो।
समा य सव्वभूतेसु, तम्हा ते भावसाधुणो।।

९. आ.नि. ६३४–
असहाए सहायत्तं, करेंति मे संजमं कारेंतस्स।
एतेण कारणेणं, नमामऽहं सव्वसाधूणं।।

सामाइय-सुत्तं	सामायिक-सूत्रम्	सामायिक सूत्र
२. करेमि भंते ! सामाइयं– सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं– मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।	करोमि भदन्त ! सामायिकं– सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि, यावज्जीवं त्रिविधत्रिविधेन– मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रामामि निंदामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।	भंते !¹ मैं सामायिक² करता हूँ–सर्व सावद्य योग³ का प्रत्याख्यान करता हूँ, यावज्जीवन तीन करण तीन योग से– मन से, वचन से, काया से न करूंगा, न करवाऊंगा, न करने वाले अन्य का अनुमोदन करूंगा। भगवन्! अतीत के सावद्य योग का प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ⁴, गर्हा करता हूँ⁵ और अपने आपको उससे व्युत्सृष्ट करता हूँ।

टिप्पण

1. भंते ! (भंते)

भंते शब्द के संस्कृत रूप भवान्त और भयान्त भी बनते हैं। आवश्यक वृत्तिकार ने इन दोनों रूपों को ग्रहण किया है।

भवान्त– संसार का अन्त करने वाला। आचार्य संसार का अन्त करने वाले होते हैं, अतः उन्हें भवान्त कहा गया है।

भयान्त– भय का अंत करने वाला। शिष्य आचार्य की शरण में आकर भय का अंत करता है, अतः उन्हें भयान्त कहा गया है।[1] भदन्त, भवान्त, भयान्त– ये तीनों गुरु के आमन्त्रण के सूचक हैं।[2] चूर्णिकार ने भी 'भंते' शब्द के संस्कृत रूप भदन्त, भवान्त और भयान्त– तीनों किए हैं।[3]

2. सामायिक (सामाइयं)

सामायिक को मोक्ष का सर्वोत्कृष्ट अंग माना गया है।[4] वह चौदह पूर्वों का पिण्डीभूत रूप है।[5] सामायिक के तीन प्रकार हैं–

१. सम्यक्त्व सामायिक
२. श्रुत सामायिक
३. चारित्र सामायिक।

चारित्र सामायिक के दो भेद हैं– अगार सामायिक और अनगार सामायिक।[6] प्रवचनसारोद्धार[7] में सामायिक के निम्नलिखित चार भेद प्राप्त होते हैं– १. श्रुत सामायिक, २. सम्यक्त्व सामायिक, ३. देशविरति सामायिक, ४. सर्वविरति सामायिक।

श्रुत सामायिक के तीन भेद हैं– १. सूत्रसामायिक, २. अर्थसामायिक, ३. तदुभय सामायिक[8]

सम्यक्त्व सामायिक का लक्षण है– तत्त्वश्रद्धा।

श्रुतसामायिक का लक्षण है– तत्त्वपरिज्ञान।

चारित्र सामायिक का लक्षण है– सावद्ययोगविरति।[9]

श्रुत सामायिक की प्राप्ति मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से होती है। सम्यक्त्व सामायिक की प्राप्ति दर्शन सप्तक के क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षय से होती है। देशविरति सामायिक की प्राप्ति अप्रत्याख्यानावरण के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम से तथा सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति प्रत्याख्यानावरण के क्षय, क्षयोपशम अथवा उपशम से होती है।[10]

सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक की प्राप्ति– ऊर्ध्व,

---

१. आ.हा.वृ. (प्र), पृ. ३१५– भदन्तः कल्याणः सुखश्चेत्यर्थः, प्राकृतशैल्या वा भवति भवान्त इति, अत्र भवस्य-संसारस्यान्तस्तेनाऽऽचार्येण क्रियत इति भवान्तकरत्वाद् भवान्त इति, तथा– भयान्तश्चेत्यत्र भयं-त्रासः तमाचार्यं प्राप्य भयस्यान्तो भवतीति भयान्तो– गुरुः, भयस्य वाऽन्तको भयान्तक इति।

२. वही, पृ. ३१५– भदन्तभवान्तभयान्त इति गुर्वामन्त्रणार्थः।

३. आ.चू. (प्र), पृ. ५९३– भंते त्ति भदंत भयान्त भवान्त इति पूज्यस्यामन्त्रणं, हे भदंत इत्यादि।

४. अष्टक प्रकरण, २९/१– सामायिकं च मोक्षांगं, परं सर्वज्ञभाषितम्।

५. वि.भा.गा. २७९६– सामाइयं संखेवो, चोद्दसपुव्वत्थपिंडो त्ति।

६. आ.नि. गा. ४९९–
सामाइयं च तिविधं, सम्मत्त सुतं तहा चरित्तं च।
दुविधं चेव चरित्तं, अगारमणगारियं चेव।।

७. प्रवचनसारोद्धार प. २४०– सामाइयं चउद्धा १. सुय २. दंसण ३. देस ४. सव्व भेएहिं।

८. वि.भा. गा. २६७४–
अज्झयणं पि य तिविहं, सुत्ते अत्थे य तदुभए चेव।

९. (क) वही, २६३५, २६३६–
सद्दहइ जाणइ जओ, पच्चक्खायं तओ जओ जीवो.....
सद्धेय-नेय-किरिओवगओ सव्वदव्वाइं।
(ख) उत्तराध्ययन, २८/३५– नाणेण जाणइ भावे, दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ,.....।

१०. वि.भा.म.वृ. (प्र), पृ. ३३०– श्रुतसामायिकमपि मति-श्रुतक्षयोपशमाल्लभ्यते, सम्यक्त्व-देशविरति-सर्वविरति-सामायिकानि तदावरणस्य यथासंभवं क्षयतः शमतः–उपशमत इत्यर्थः, अथवोभयतः क्षयोपशमाद् भवन्ति।

अधः और तिर्यक्– इन तीनों लोकों में होती है। देशविरति सामायिक की प्राप्ति केवल तिर्यक् लोक में होती है। सर्वविरति सामायिक की प्राप्ति केवल मनुष्य लोक में होती है। पूर्व प्रतिपन्नक देशविरति तीनों लोकों में मिलता है। पूर्व प्रतिपन्नक सर्वविरति ऊर्ध्वलोक में भी मिल सकता है।[१]

सम्यक्त्व सामायिक और देशविरति सामायिक के प्रतिपत्ता क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवें भाग में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उत्कृष्ट उतने भव करते हैं तत्पश्चात् मुक्त हो जाते हैं तथा जघन्यतः एक भव करते हैं। चारित्र सामायिक का प्रतिपत्ता मनुष्य के उत्कृष्ट आठ भव तथा जघन्यतः एक भव करता है। श्रुत सामायिक का प्रतिपत्ता उत्कृष्टतः अनन्तभव तथा सामान्यतः जघन्यतः एक भव करता है। जैसे– मरुदेवा।[२]

सामान्य श्रुतसामायिक संव्यवहार राशि के सब जीवों द्वारा स्पृष्ट हैं। सम्यक्त्व सामायिक और सर्वविरति सामायिक की प्रतिपत्ति के बिना कोई भी जीव सिद्ध नहीं हो सकता। अतः ये दोनों सामायिक सब सिद्धों द्वारा स्पृष्ट है। सब सिद्धों को बुद्धि से कल्पित असंख्येय भागों में विभक्त करने पर कहा जा सकता है कि देश-विरति सामायिक असंख्येय भाग न्यून सिद्धों के द्वारा स्पृष्ट है। कोई जीव देशविरति सामायिक का स्पर्श किये बिना ही मुक्त हो जाते हैं, जैसे– मरुदेवा।[३]

सावद्य योग का प्रत्याख्यान करने वाला आत्मा सामायिक है।[४] सामायिक भाव में परिणत होने से आत्मा सामायिक है।[५] सावद्य योग से बचने के लिए सामायिक एकमात्र पूर्ण और पवित्र अनुष्ठान है।[६] सामायिक के आठ निरुक्त हैं[७]–

१. **सामायिक**–जिसमें सम–मध्यस्थभाव की आय–उपलब्धि होती है, वह सामायिक (आत्मा का एकान्ततः प्रशमभाव) है।

२. **समयिक**–सभी जीवों के प्रति सम्यक्–दयापूर्ण प्रवर्तन।

३. **सम्यग्वाद-रागद्वेष**–शून्य होकर यथार्थ कथन करना।

४. **समास**–जीव की संसार समुद्र से पारगामिता अथवा कर्मों का सम्यक् क्षेपण।

५. **संक्षेप**–महान् अर्थ का अल्पाक्षरों में कथन। यह चौदह पूर्वों का सार है।

६. **अनवद्य**–पापशून्य प्रक्रिया।

७. **परिज्ञा**–पाप के परित्याग का संपूर्ण ज्ञान।

८. **प्रत्याख्यान**–गुरु की साक्षी से परिहरणीय प्रवृत्ति से निवृत्ति।

इन आठ निरुक्तों के आठ दृष्टान्त हैं[८]–

१. दमदंत

हस्तिशीर्ष नगर में राजा दमदन्त राज्य करता था। हस्तिनापुर में पांडवों का राज्य था। दमदन्त का उनके साथ वैरभाव था। एक बार राजा दमदन्त राजगृह गया हुआ था, तब पांडवों ने उसके राज्य को लूट लिया और राजधानी को जला डाला। दमदंत ने प्रतिशोधवश हस्तिनापुर पर आक्रमण कर दिया। उसके भय से कोई बाहर नहीं आया, तब दमदंत पुनः अपने देश लौट आया। संयोगवश अतिसंवेग से वह प्रव्रजित हो एकलविहार प्रतिमा की साधना करते हुए हस्तिनापुर आया और गांव के बाहर प्रतिमा में स्थित हो गया। पांचों पांडव उसे वन्दन करने गए। दुर्योधन भी वहां आया। जब उसे ज्ञात हुआ कि यह दमदंत है, तब उसमें वैर का भाव जागा और देखते-देखते मुनि के चारों ओर पत्थरों का जमाव हो गया। पत्थरों से मुनि ढक गए। लौटते हुए युधिष्ठिर को ज्ञात हुआ कि यह दुर्योधन का दुष्कृत्य है। उन्होंने सारे पत्थरों को हटाया, मुनि का अभ्यंगन किया और दुष्कृत्य के लिए क्षमायाचना की। मुनि दमदंत का पांडव और दुर्योधन–सबके प्रति समभाव था।

२. मुनि मेतार्य

मुनि मेतार्य भिक्षा के निमित्त एक स्वर्णकार के वहां गए। स्वर्णकार महाराज श्रेणिक के लिए स्वर्ण-यवों का निर्माण कर रहा

---

१. आ.नि.५१०,५११–
सम्म-सुताणं लंभो, उड्ढं च अहे य तिरियलोए य।
विरती मणुस्सलोए, विरताविरती य तिरिएसुं।।
पुव्वपडिवन्नगा पुण, तीसु वि लोगेसु नियमतो तिण्हं।
चरणस्स दोसु नियमा, भयणिज्जा उड्ढलोगम्मि।।

२. आ.नि. ५५६ हा.वृ (प्र), पृ. २४२–
सम्मत्तदेसविरता, पलितस्स असंखभागमेत्ताओ।
अट्ठभवा उ चरित्ते, अणंतकालं च सुतसमए।।
सम्यक्त्वदेशविरतिमन्तः .....जघन्यतस्त्वेक.....
चारित्रे.....जघन्यतस्त्वेक एव.....सामान्यश्रुतसामायिके जघन्यतस्त्वेकभवमेव, मरुदेवीव।

३. आ.नि. गा. ५६० हा.वृ. भाग १, पृ. २४२–
सव्वजीवेहिं सुतं, सम्मचरित्ताइ सव्वसिद्धेहिं।
भागेहि असंखेज्जेहिं, फासिता देसविरतीओ।।
सर्वजीवैः सांव्यवहारिकराश्यन्तर्गतैः सामान्यश्रुतं स्पृष्टं.....सर्व-सिद्धानां बुद्ध्याऽसंख्येयभागीकृतानामसंख्येयभागैर्भागोनैर्देशविरतिः स्पृष्टा, असंख्येयभागेन तु न स्पृष्टा, यथा– मरुदेवास्वामिन्येति।

४. आ.नि. गा. ४९४–
आया खलु सामइयं, पच्चक्खायंतओ हवति आया।

५. वि.भा. गाथा २६३६–
सामाइयभावपरिणइभावाओ जीव एव सामाइयं।।

६. आ.नि. गा. ५०३–
सावज्जजोगप्परिवज्जणट्ठा, सामाइयं केवलियं पसत्थं।

७. वही, गा. ५६४–
सामाइयं समइयं, सम्मावाओ समास संखेवो।
अणवज्जं च परिण्णा, पच्चक्खाणे य ते अट्ठ।।

८. श्री भिक्षुआगमविषय कोश, भाग-१, पृ. ६७५-६७७।

था। मुनि को आए देख वह उठा, भीतर गया, किन्तु मुनि के लिए भिक्षा लेकर बाहर नहीं आया। मुनि वहां से चले गए। इतने में ही क्रौंच पक्षी ने 'यव' निगल लिए। स्वर्णकार ने यवों को न देख, मुनि पर आशंका की। मुनि से पूछताछ की। मुनि मौन रहे। तब स्वर्णकार ने गीले चमड़े से उनके सिर को बांधा। ज्यों-ज्यों चमड़ा सूखता गया, मुनि को असह्य वेदना होने लगी। आंखें बाहर आ गिरीं। मुनि निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़े। इतने में ही किसी कारणवश क्रौंचपक्षी ने यवों को उगल डाला। लोगों ने स्वर्णकार को बुरा-भला कहा। मुनि मेतार्य को क्रौंच पक्षी द्वारा यव निगलने की बात ज्ञात थी, पर उन्होंने प्राणिदया से प्रेरित होकर अपने प्राणों की बलि देना ही उचित समझा।

३. कालकपृच्छा

कालक प्रव्रजित हो गए। दत्त राजा बना। उसने मुनि कालक से भविष्य पूछा। मुनि ने कहा–'सातवें दिन तुम श्वकुंभी में पकाए जाओगे।' इसका क्या विश्वास? –राजा के पूछने पर मुनि ने कहा–सातवें दिन तुम्हारे मुंह में मल का निक्षेप होगा। राजा ने मुनि को कैद कर लिया।

सातवें दिन राजा अश्वक्रीडा के लिए गया। लौटते समय उसने सोचा–आज मुनि को मार डालना है। वह आगे बढ़ा। एक स्थान पर अश्व रुका। उस अश्व ने पैर पटका। उस स्थान पर मल विसर्जित कर किसी ने उस पर पुष्प डाल दिए थे। घोड़े के पैर से मल उछलकर राजा के मुंह में चला गया। राजा डरा। दंडिकों ने जान लिया कि राजा मुनि को मारेगा। उन्होंने उसे पकड़ कर एक कुंभी में डाल दिया। उसी कुंभी में दो-चार कुत्ते भी डाल दिए। कुंभी को अग्नि पर चढ़ाया। ताप लगा। कुत्ते खूंखार होकर राजा को काटने लगे। उसे खंड-खंड कर मार डाला। कालक ने जैसा कहा, वैसे ही हुआ। यह सम्यग्वाद है।

४. चिलात

राजगृह में धन नामक सार्थवाह रहता था। उसकी दासी का नाम था चिलाता। दासी के पुत्र का नाम था चिलातक। सुंसुमा धन सार्थवाह की प्रिय पुत्री थी। एक बार धन ने कुपित होकर दासीपुत्र चिलातक को घर से निकाल दिया। वह वहां से चला और दस्युदल के साथ जुड़ गया। कालान्तर में वह दस्यु-सेनापति बना और उसी धन सार्थवाह को लूटने राजगृह में आया। सारा धन बटोर कर जाते समय उसने सुंसुमा का भी अपहरण कर लिया। सेठ ने दलबल के साथ पीछा किया। जब चोरपति चिलातक ने देखा कि वह सुंसुमा को ले जाने में असमर्थ है, तब उसने सुंसुमा का सिरच्छेद कर, धड़ को वही फेंक, केवल सिर को ले आगे बढ़ा। वह दिग्मूढ हो गया। एकांत में एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। वन्दना कर धर्म पूछा। मुनि ने समासरूप में धर्म बताते हुए कहा–उपशम, विवेक, संवर–गुप्ति। आवेग का उपशम करो, ममत्व का विवेक–परित्याग करो और इंद्रिय-मन का निग्रह करो। इन तीन शब्दों में लीन होकर चिलातक ध्यानारूढ़ हो गया। चींटियों ने उसके शरीर को छलनी बना डाला, परन्तु चिलातक ध्यान से विचलित नहीं हुआ। धर्म का समासरूप उसका त्राण बन गया।

५. ऋषि आत्रेय

चार ऋषि महाराज जितशत्रु के पास उपस्थित होकर बोले–हमने चार ग्रन्थों का निर्माण किया है। प्रत्येक ग्रन्थ लाख-लाख श्लोक परिमाण है। आप उन्हें सुनें। राजा ने कहा–मेरे पास इतना समय नहीं है। आप अपने ग्रन्थों को संक्षिप्त करें। संक्षिप्त करते-करते उन्होंने चार लाख श्लोकों का सार एक श्लोक में आबद्ध कर राजा से कहा–

जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपिलः प्राणिनां दया।
बृहस्पतिरविश्वासः, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम्।।

आयुर्वेद के आचार्य आत्रेय ने कहा–किए हुए भोजन के जीर्ण होने पर भोजन करना ही आरोग्य का मूल है। धर्मशास्त्र के प्रणेता कपिल बोले–प्राणी मात्र पर दया रखना ही श्रेष्ठ धर्म है। नीतिशास्त्र के विशारद बृहस्पति बोले–किसी पर विश्वास नहीं करना चाहिए और कामशास्त्र के प्रणेता पंचाल ने कहा–स्त्रियों के प्रति मृदुता बरतनी चाहिए। यह संक्षेपीकरण का उत्कृष्ट उदाहरण है, इसी प्रकार सामायिक चौदह पूर्वों का संक्षेपार्थ है–

एवं चेव इमं सामाइयं चोद्दसण्हं पुव्वाणं संखेवो।

६. धर्मरुचि

वसंतपुर के जितशत्रु राजा का पुत्र धर्मरुचि था। उसकी माता का नाम था धारिणी। राजा पुत्र को राज्यभार देकर प्रव्रजित होना चाहता था। पुत्र ने मां से पूछा–'मां! पिताजी मुझे राज्यभार देकर स्वयं राज्य क्यों छोड़ना चाहते हैं?' मां ने कहा–'वत्स! राज्य संसार बढ़ाने वाला होता है।' धर्मरुचि बोला–'मां! फिर मैं क्यों राज्य में फंसू?' तब पिता-पुत्र तापस बन गए। अमावस्या आई। उद्घोषित हुआ कि कल अमावस्या है। आज ही फल-फूलों का संग्रह कर लें। कल आकुट्टि (छेदन-भेदन– हिंसा) नहीं होगी। धर्मरुचि ने सोचा–'अरे! यह क्या? अनवद्य–अनाकुट्टि (अहिंसा) तो प्रतिदिन होनी चाहिए।' चिंतन आगे बढ़ा। जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ और वह प्रत्येकबुद्ध हो गया।

७. इलापुत्र

इलावर्धन नगर में 'इला' देवता का मंदिर था। एक सार्थवाही पुत्र के निमित्त देवता की पूजा-अर्चा करती थी। उसे पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र का नाम 'इलापुत्र' रखा। उसने अनेक कलाएं सीखीं और उन सबमें दक्षता प्राप्त कर ली। एक बार वह नटमंडली की एक कन्या में आसक्त हो गया। उसने नट-मुखिया से उसकी याचना करते हुए कहा– कन्या के वजन जितनी स्वर्ण-

मुद्राएं मैं देने के लिए तैयार हूं। नट बोला–यह पुत्री हमारी अक्षयनिधि है। यदि तुम हमारी नटविद्या में प्रवीण होकर हमारे साथ-साथ घूमोगे तो संभव है, यह कन्या तुम्हें वरण कर ले।' इलापुत्र नटविद्या सीखने लगा। कुछ ही समय में वह निपुण हो गया। एक बार राजा के समक्ष नट-विद्या दिखाने के लिए पूरी मंडली वेणातट पर गई। राजा अपने पूरे परिवार के साथ नटविद्या देखने उपस्थित हुआ। नटों की कला देखते-देखते राजा उस नट-पुत्री में आसक्त होकर उसकी कामना करने लगा। नट इलापुत्र अपना करतब दिखा रहा था। राजा अन्यमनस्क था। इलापुत्र के कला-कौशल पर राजा के अतिरिक्त सब दर्शक मंत्रमुग्ध थे। राजा इलापुत्र की मृत्यु की कामना कर रहा था। इलापुत्र ने तीन बार अपना कौशल दिखाया। प्रत्येक बार पूछने पर राजा यही कहता–मैंने पूरा नहीं देखा, पुनः दिखाओ। चौथी बार इलापुत्र ने सोचा–'धिक्कार है कामभोगों को। राजा इतनी रानियों से भी तृप्त नहीं हुआ। यह नट-कन्या में आसक्त है और मुझे मारना चाहता है।'

इलापुत्र बांस के अग्र भाग पर कला दिखा रहा था। उसने देखा, एक कुलवधू मुनि को भिक्षा दे रही है। मुनि उस रूपसुंदरी की ओर न देखते हुए अपनी भिक्षाचार्य में प्रशान्तभाव से तल्लीन हैं। इलापुत्र के अध्यवसाय विशुद्धतर होते गए। उसी समय उसे केवलज्ञान हो गया। नटकन्या विरक्त हो गई। अग्रमहिषी और राजा भी उपशम में अग्रसर हुए और इस प्रकार चारों को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इलापुत्र ने 'परिज्ञा' के द्वारा अपना लक्ष्य प्राप्त कर लिया।

८. तेतलीपुत्र

तेतलीपुर नगर के राजा कनकरथ के अमात्य का नाम तेतलीपुत्र था। उसकी पत्नी पोट्टिला कालान्तर में प्रव्रजित होकर समाधि मृत्यु को प्राप्त कर देवलोक में देव रूप में उत्पन्न हुई।

पूर्व कृत संकेत के अनुसार पोट्टिल देव ने तेतलीपुत्र को बार-बार केवलिप्रज्ञप्त धर्म का संबोध दिया। जब वह संबुद्ध नहीं हुआ तो संबोध देने के लिए देवता ने अप्रिय वातावरण का निर्माण किया। राजा, माता-पिता और दास-दासी के द्वारा अपमानित होने पर तेतलीपुत्र ने आत्महत्या के अनेक प्रयत्न किए, पर सब व्यर्थ। अंत में वह आर्त्तध्यान में डूबा हुआ चिन्ता की मुद्रा में बैठ गया।

पोट्टिल देव ने पोट्टिला के रूप की विक्रिया की और कहा–तेतलीपुत्र! आगे प्रपात है, पीछे हाथी का भय है, दोनों ओर गाढ अंधकार है और मध्य में बाणों की वर्षा हो रही है। बोलो, अब हम कहां जाएं?

तेतलीपुत्र ने कहा–पोट्टिले! भयभीत के लिए प्रव्रज्या ही शरण है। देव ने दो-तीन बार कहा–तुमने यह अर्थ भलीभांति जान लिया है? यह कहकर देव अदृश्य हो गया। शुभ परिणामों के कारण उसको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। सघन संप्रेक्षा कर वह प्रव्रजित हो गया। अनुचिन्तन करते-करते उसे पूर्व अधीत सामायिक आदि चौदह पूर्व स्वयं ही ज्ञात हो गये। वह प्रत्याख्यान में दृढ़ रहा और अंत में कैवल्य प्राप्त कर सिद्ध हो गया।

सामायिक का लक्षण है– समभाव। जिससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप समभाव की प्राप्ति होती हो उसे सामायिक कहते हैं। समाय शब्द से इकण् प्रत्यय लगाने पर सामायिक शब्द बनता है।[१]

मूलाचार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तप के साथ जो एकमेकपना है, उसे समय कहा है और समय को ही सामायिक कहा गया है। समभाव से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। समभाव के बिना चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि-वेष धारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड रूप चरित्र पा ले फिर भी उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।[२]

सामायिक व्रत ग्रहण करने पर श्रावक भी साधु जैसा हो जाता है, अतः बहुत सामायिक करनी चाहिए।[३]

अगार सामायिक के ३२ दोष हैं[४]–

---

१. आ.चू. (प्र), पृ. ५९३– सामायिकमिति णाणदंसणचरणाणि भावसमं तस्य आयः समाय इत्येतस्य इकण् प्रत्ययांतस्य नैरुक्तविधानेन सामायिकमिति भवति।

२. मूलाचार, गा. ५१९,५२०–
सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं जं जं पसत्थसमगमणं।
समयं तु तं तु भणदि, तमेव सामाइयं जाणे।।
किं तिव्वेण तवेणं, किं च जवेणं किं चरित्तेणं।
समयाइ विणा मुक्खो, न हु हूओ कह वि न हु होइ।।

३. आ.नि., गाथा ५०५–
सामाइयमि तु कते, समणो इव सावगो हवति जम्हा।
एतेण कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा।।

४. श्रीश्रावकआवश्यक सूत्र पृ. २१७-२१९–
अविवेक जसो कित्ती, लाभत्थी गव्व-भय-नियाणत्थी।
संसय रोस अविणओ, अबहुमाणए दोसा भाणियव्वा।।१।।
कुवयण सहसाकारे, सच्छंद संखेय कलहं च।
विगहा विहासोऽसुद्धं, निरवेक्खो मुणमुणा दोसा दस।।२।।
कुआसणं चलासणं चला दिट्ठी,
सावज्जकिरियाऽऽलंबणाऽऽकुंचणपसारणं।
आलस-मोडन-मल-विमासणं,
निद्दा वेयावच्च त्ति बारस कायदोसा।।३।।

मन के दस दोष–

१. **अविवेक दोष–** सामायिक के समय आत्महित के अतिरिक्त अन्य विचार करना।

२. **यश, कीर्ति दोष**–लोग प्रशंसा करे, लोग धर्मात्मा कहें, साधु आशीर्वाद दें, ऐसी अभिलाषा रखना।

३. **लाभार्थ**–सामायिक द्वारा धन लाभ की इच्छा करना।

४. **गर्व दोष**–दूसरों से अच्छी सामायिक करता हूं, इसलिए मैं उच्च हूं ऐसा अभिमान रखना।

५. **भय दोष**–ऊंचे घराने का होकर भी यदि सामायिक न करूं तो लोग क्या कहेंगे अथवा किसी अपराध के कारण मिलने वाले राजदंड से एवं देनदारी आदि से बचने के लिए सामायिक लेकर बैठना।

६. **निदान दोष**–सामायिक के फल को पाने, बंधन हेतु सांसारिक सुख की इच्छा करना।

७. **संशय दोष**–सामायिक के फल मिलने में संशय करना।

८. **रोष दोष**–रोष कर, क्रोध ही क्रोध में सामायिक करना।

९. **अविनय दोष**–ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा उसके धारक साधुओं के प्रति विनय बिना अविनय से सामायिक करना।

१०. **अबहुमान दोष**–भक्ति भाव, बहुमान, उमंग के सिवाय सामायिक करना।

वचन के दस दोष–

१. **कुवचन दोष**–कटु, अप्रिय, असत्य, वचन बोलना।

२. **सहसाकार दोष**–बिना विचार करके एकाएक बोलना।

३. **स्वच्छंद दोष**–शास्त्र के विरुद्ध बोलना।

४. **संक्षेप दोष**–सामायिक लेते अथवा पारने की विधि, तथा स्वाध्याय-समय कोई शास्त्र सिद्धान्त के पाठ को अस्पष्ट अथवा जल्दी बोलना।

५. **कलह दोष**–किसी के साथ कलहकारी वचन बोलना।

६. **विकथा दोष**–स्त्री कथा, भक्त कथा, देश कथा और राज कथा करना।

७. **हास्य दोष**–किसी की हंसी करना अथवा जोर-जोर से हंसना।

८. **अशुद्ध दोष**–सूत्र पाठ में मात्रा अथवा अनुस्वार न्यूनाधिक बोलना, ह्रस्व का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व उच्चारण करना, संयुक्त अक्षर तोड़ कर बोलना।

९. **निरपेक्ष दोष**–निश्चयकारी भाषा का प्रयोग करना अथवा अपेक्षारहित बोलना।

१०. **मुन्मन दोष**–गुनगुनाते रहना और सूत्र पाठ बोलने में गड़बड़ करना।

काया के बारह दोष–

१. **कुआसन दोष**–पांव पर पांव चढ़ाकर बैठना।

२. **चलासन दोष**–डगमगाते आसन पर बैठना अथवा बार-बार आसन बदलना।

३. **चलदृष्टि दोष**–चारों तरफ अनावश्यक दृष्टि फिराते रहना।

४. **सावद्य क्रिया दोष**–घर के कार्य अथवा व्यापार–व्यवहार संबंधित बात संज्ञा द्वारा करना।

५. **आलम्बन दोष**–विशेष कारण के बिना दीवार, खंभे आदि का सहारा लेकर बैठना।

६. **आकुंचन-प्रसारण दोष**–विशेष कारण के बिना हाथ-पैरों को सिकोड़ना और फैलाना।

७. **आलस्य दोष**–आलस्य से शरीर मरोड़ना।

८. **मोड़न दोष**–हाथ-पैर की अंगुलियों के कटके निकालना।

९. **मल दोष**–शरीर का मैल उतारना।

१०. **विमासन दोष**–शोकग्रस्त की तरह बैठना।

११. **निद्रा दोष**–ऊंघना एवं नींद लेना।

१२. **वैयावृत्य**–निष्कारण किसी के पास सेवा, शुश्रूषा करवाना।

अगार सामायिक के पांच अतिचार हैं[1]–

१. मन दुष्प्रणिधान– मन की दुष्प्रवृत्ति करना।

२. वचन दुष्प्रणिधान– निष्ठुर सावद्य वचनों का प्रयोग।

३. काय दुष्प्रणिधान– काया की दुष्प्रवृत्ति करना।

४. सामायिक स्मृत्यकरणता– सामायिक ग्रहण करने के बाद उसकी स्मृति न रखना।

५. सामायिक अनवस्थितकरणता– सामायिक को अस्थिरता से करना।

सामायिक करने के लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मन:शुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि– ये सात बातें जाननी चाहिए।[2]

---

१. उवासगदसाओ, १/४०–तयाणंतरं च णं सामाइयस्स समणोवासएणं पंच अतियारा जाणियव्वा, न समायरियव्वा, तं जहा–
१. मणदुप्पणिहाणे, २. वइदुप्पणिहाणे, ३. कायदुप्पणिहाणे, ४. सामाइयस्स सतिअकरणया, ५. सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया।

२. का.अ.मू., ३५२–
सामाइयस्स करणे, खेत्तं कालं च आसणं विलओ।
मण-वयण-काय-सुद्धी, णायव्वा हुंति सत्तेव।।

3. पापकारी प्रवृत्ति (सावज्जं जोगं)

अवद्य का अर्थ है– पाप। जो पाप सहित है, वह सावद्य है। पाप गर्हित होता है। वह मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति के द्वारा ग्रहण होता है। योग का अर्थ है– प्रवृत्ति।[1] प्रवृत्ति के तीन प्रकार हैं– मानसिक प्रवृत्ति, वाचिक प्रवृत्ति तथा शारीरिक प्रवृत्ति।

4-5. निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं (निंदामि, गरिहामि)

अतीत में किए हुए सावद्य योग के लिए स्वयं (आत्म साक्षी से) संताप करना निंदा है तथा दूसरों के सामने (गुरु के समक्ष) संताप करना गर्हा है।[2]

ठाणं सूत्र में गर्हा के दो-दो भेद प्राप्त होते हैं–

१. मानसिक गर्हा	१. दीर्घकालीन गर्हा
२. वाचिक गर्हा	२. अल्पकालीन गर्हा।[3]

---

१. आ.चू. (प्र), पृ. ५९३– अवद्यं गर्हितं मिच्छत्तं अण्णाणं अविरती सह अवद्येन सावद्यस्तं कोऽसौ? योगः व्यापार इत्यर्थः।

२. वही, पृ. ५९४– 'निंदा आत्मसंतापे', 'गर्हा प्रकाशने' आत्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा, तत्कोऽर्थः? योऽतीतकालविषयः त्रिविधः सावद्ययोगस्तस्मात् त्रिविधेन करणेन पडिनियत्तामि, तमेव चात्मसाक्षिकं निंदामि परसाक्षिकं गर्हामीति।

३. ठाणं २/३८–दुविहा गरिहा पण्णत्ता तं जहा–मणसा वेगे गरहति, वयसा वेगे गरहति।.....

बीयं अज्झयणं : दूसरा अध्याय

चउवीसत्थओ : चतुर्विंशतिस्तव

आमुख

चतुर्विंशतिस्तव का प्रतिपाद्य विषय है–उत्कीर्तना। इसमें वर्तमान अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थंकरों की भाव स्तुति है। तीर्थ का अर्थ है–प्रवचन। तीर्थंकर प्रवचनकार होते हैं। वे समभाव के उपदेशक होने के कारण उपकारी हैं। वास्तविक गुणों का उत्कीर्तन करने से अंतःकरण की शुद्धि होने के कारण दर्शन की विशुद्धि होती है इसलिए तीर्थंकरों की उत्कीर्तना की जातीहै।[१]

चतुर्विंशतिस्तव से दर्शन (दर्शनाचार) विशुद्धि की प्राप्ति होती है।[२] यह चतुर्विंशतिस्तव भक्ति योग का सूत्र है। इस स्तुति से तीर्थंकर के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतरागी होते हैं। इनके साथ तादात्म्य स्थापित करने का स्वस्थ उपाय है–भक्ति। उससे दर्शनाचार के प्रति आस्था सुदृढ़ बनती है।

श्रीमद् जयाचार्य ने तीर्थंकर स्तुति से अस्तित्व-बोध, आत्मगुणों का विकास और वृत्तियों का परिष्कार होना माना है।[३]

इस चतुर्विंशतिस्तव के छठे पद्य में आरोग्य, बोधि तथा उत्तम समाधि देने की प्रार्थना की गई है। एक ओर जैन दर्शन आत्मा को सुख-दुःख का कर्त्ता-विकर्त्ता मानता है दूसरी ओर मुक्त आत्माओं से प्रार्थना। क्या यह विरोधाभास नहीं है? इस प्रश्न का समाधान दिया गया–यह सत्य है जैन दर्शन मुक्त आत्माओं को कर्त्ता नहीं मानता। हम उनसे कोई भी फल प्राप्तिकरवाने की आशा नहीं रखते। हम सिद्ध भगवान् के आदर्शों को सामने रखकर उनके पदचिह्नों का अनुसरण करते हैं। उनके गुणों को याद करते हैं। उनकी साधना के आचरण जीवन में उतारने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार वे सिद्ध भगवान् हमारे अभ्युदय के हेतु बनते हैं, अवलम्बन बनते हैं। सम्यक्त्व और समाधि के लाभ की कर्त्ता हमारी आत्मा ही है।[४]

---

१. (क) अनु. चूर्णि, पृ. १८–बितिए दरिसणविसोहिणिमित्तं पुण बोधिलाभत्थं च कम्मखवणत्थं च तित्थ-गराणामुक्कित्तणा कता।

(ख) अनुयोगद्वार हा. वृ. पृ. २५–यथाभूतान्यसाधारण-गुणोत्कीर्तना चतुर्विंशतिस्तवस्येति।

२. उत्तराध्ययन २९/१०

३. षडावश्यक पृ. १०५

४. आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा कृत लोगस्स की टीका।

बीयं अज्झयणं : दूसरा अध्ययन

चउवीसत्थओ : चतुर्विंशतिस्तव

मूलपाठ

चउवीसत्थव-सुत्तं

लोगस्स उज्जोयगरे,
धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं,
चउवीसं पि केवली।।१।।
उसभमजियं च वंदे,
संभवमभिनंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं,
जिणं च चंदप्पहं वंदे।।२।।
सुविहिं च पुप्फदंतं,
सीअलसिज्जंस वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं
धम्मं संतिं च वंदामि।।३।।
कुंथुं अरं च मल्लिं,
वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामि रिट्ठनेमिं
पासं तह वद्धमाणं च।।४।।
एवं मए अभिथुआ,
विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा,
तित्थयरा मे पसीयंतु।।५।।
कित्तिय वंदिय मए,
जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरोग्ग बोहिलाभं,
समाहिवरमुत्तमं दिंतु।।६।।
चंदेसु निम्मलयरा,
आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा,
सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।७।।

संस्कृत छाया

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्रम्

लोके उद्योतकरान्,
धर्मतीर्थकरान् जिनान्।
अर्हतः कीर्तयिष्यामि,
चतुर्विंशतिमपि केवलिनः।।१।।
ऋषभम् अजितं च वन्दे,
सम्भवम् अभिनंदनं च सुमतिं च।
पद्मप्रभं सुपार्श्वं,
जिनं च चन्द्रप्रभं वन्दे।।२।।
सुविधिं च पुष्पदन्तं,
शीतलं श्रेयांसं वासुपूज्यं च।
विमलम् अनन्तं च जिनं,
धर्मं शान्तिं च वन्दे।।३।।
कुन्थुम् अरं च मल्लिं,
वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च।
वन्दे अरिष्टनेमिं,
पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च।।४।।
एवं मया अभिष्टुताः,
विधुतरजोमलाः प्रहीणजरमरणाः।
चतुर्विंशतिः अपि जिनवराः।
तीर्थकराः मम प्रसीदन्तु।।५।।
कीर्तिताः वन्दिताः मया,
ये एते लोके उत्तमाः सिद्धाः।
आरोग्यं बोधिलाभं,
समाधिवरमुत्तमं ददतु।।६।।
चन्द्रेभ्यः निर्मलतराः,
आदित्येभ्यः अधिकं प्रकाशकराः।
सागरवरगंभीराः,
सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु।।

हिन्दी अनुवाद

चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र

लोक में प्रकाश करने वाले, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक,[1] जिन[2], अर्हत्[3], चौबीस ही[4] केवलियों[5] का मैं कीर्त्तन करूंगा।[6]

मैं ऋषभ[7] और अजित[8] को वंदन करता हूं। संभव,[9] अभिनन्दन,[10] सुमति[11] को वन्दन करता हूं। पद्मप्रभ,[12] सुपार्श्व,[13] और चन्द्रप्रभ[14] जिनेश्वर को वन्दन करता हूं।

मैं पुष्पदन्त यानी सुविधि,[15] शीतल,[16] श्रेयांस,[17] वासुपूज्य,[18] विमल,[19] अनन्त,[20] धर्म[21] और शान्ति[22] जिनेश्वर को वन्दन करता हूं।

मैं कुन्थु,[23] अर,[24] मल्लि,[25] मुनिसुव्रत[26] और नमि[27] जिनेश्वर को वन्दन करता हूं।मैं अरिष्टनेमि,[28] पार्श्व[29] तथा वर्द्धमान[30] को वन्दन करता हूं।

इस प्रकार जिनकी मैंने स्तुति की है, जिन्होंने कर्म-रज मल[31] को धुन डाला है, जो जरा और मरण से मुक्त हैं, वे चौबीस ही जिनवर तीर्थंकर[32] मुझ पर प्रसन्न हों।

मैंने जिनका कीर्तन और वन्दन किया है, जो ये लोक में उत्तम सिद्ध हैं (वे) आरोग्य,[33] बोधिलाभ[34] और उत्तम समाधि[35] दें।

चन्द्रों से निर्मलतर, सूर्यों से अधिक प्रकाश करने वाले और समुद्र के समान गंभीर सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि प्रदान करें।

टिप्पण

1. धर्मतीर्थ के प्रवर्तक (धम्मतित्थयरे)

तीर्थ शब्द के अनेक अर्थ हैं–

(१) चतुर्विध धर्मसंघ

(२) गणधर

(३) प्रवचन

(४) नदी, सरोवर आदि का घाट।

तीर्थ दो प्रकार का है– द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ।[१]

द्रव्यतीर्थ– जिससे शारीरिक दाह, तृषा और मलों का अपनयन होता है, वह द्रव्यतीर्थ अर्थात् नदी आदि का घाट है।[२]

भावतीर्थ–प्रवचन को भावतीर्थ कहा जाता है। वह आन्तरिक द्वेषाग्नि से उत्पन्न दाह को क्रोध के निग्रह के द्वारा, तृष्णारूपी प्यास को लोभ के निग्रह के द्वारा तथा तप, संयम द्वारा अष्टविध कर्मरूपी मल को दूर करने में समर्थ है। वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र में व्यक्ति को नियोजित करता है।[३]

मूलाचार में धर्म तीर्थ की व्याख्या करते हुए श्रुतधर्म को तीर्थ माना है।[४]

आवश्यक चूर्णि में गणधर अथवा चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा गया है। तीर्थ को करने वाले तीर्थंकर कहलाते हैं।[५]

2. जिन (जिणे)

जो क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे जिन कहलाते हैं।[६]

3. अर्हत् (अरहंते)

देखें– १/१ के अर्हत् का टिप्पण।

4. चौबीस ही (चउवीसं पि)

आवश्यक निर्युक्तिकार ने 'अपि' शब्द से ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों का भी ग्रहण किया है।[७] वृत्तिकार हरिभद्र ने किसी क्षेत्र विशेष की बात न कहकर 'अपि' शब्द से अन्य तीर्थंकरों का ग्रहण किया है।[८] चूर्णिकार के अनुसार 'अपि' शब्द सभी तीर्थंकरों के समान गुण (प्रथम गाथागत) प्रकट करता है।[९]

5. केवली (केवली)–

केवल शब्द के अनेक अर्थ हैं– सम्पूर्ण, एक, अकेला, सिर्फ आदि। केवली का अर्थ है– केवलज्ञानी, सम्पूर्णज्ञानी। वे अनेक हो सकते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में वे केवलज्ञानी गृहीत हैं, जो धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं। हर केवलज्ञानी धर्मतीर्थ का प्रवर्तन नहीं करता।

जो केवलचारित्र तथा केवलज्ञान से युक्त होता है, वही केवली होता है।[१०] स्थानांग के अनुसार केवली के तीन प्रकार हैं– अवधिज्ञानी केवली, मन:पर्यवज्ञानी केवली तथा केवलज्ञानी केवली।[११]

6. कीर्तन करूंगा (कित्तइस्सामि)–

टीकाकार के अनुसार नामपूर्वक स्तवना करना कीर्तन है।[१२]

7. ऋषभ (उसभ)

ऋषभ और वृषभ– दोनों एकार्थक शब्द हैं। भगवान् ऋषभ की दोनों जंघाओं पर ऊर्ध्वमुखी वृषभों का चिह्न था। मरुदेवी भगवती ने पहला स्वप्न वृषभ (बैल) का देखा, अत: उन्होंने अपने पुत्र का नाम वृषभ रखा। शेष तीर्थंकरों की माताओं ने प्रथम 'गज' का फिर वृषभ आदि चौदह महास्वप्न देखें।[१३]

---

१. आ.चू. (प्र), पृ. ८४– तरंति अनेनेति तीर्थं...., तं दुविहं– दव्वतित्थं भावतित्थं च।

२. आ.नि. गा. १०६६–
दाहोवसमं तण्हाइछेदणं मलपवाहणं चेव।
तिहि अत्थेहि निउत्तं, तम्हा तं दव्वतो तित्थं।।

३. वही, गा. १०६७–१०६९
कोधम्मि उ निग्गहिते, दाहस्स पसमणं हवति तत्थं।
लोभम्मि उ निग्गहिते तण्हाइ छेदणं होइ।।
अट्ठविधं कम्मरयं, बहुगेहि भवेहिं संचियं जम्हा।
तवसंजमेण धुव्वइ, तम्हा तं भावतो तित्थं।।
दंसणनाणचरित्तेसु, निउत्तं जिणवरेहि सव्वेहिं।
तिसु अत्थेसु निउत्तं, तम्हा तं भावतो तित्थं।।

४. मूलाचार, गा. ५५९–
तिविहो य होदि धम्मो, सुदधम्मो अत्थिकायधम्मो य।
तदिओ चरित्तधम्मो सुदधम्मे एत्थ पुण तित्थं।।

५. आ.चू. (प्र), पृ. ८५–तित्थं गणहरा, जं जेहिं कयं ते तित्थकरा, अहवा तित्थं चाउवन्नो संघो, तं जेहि कयं ते तित्थकरा।

६. (क) आ.नि. गा. १०७६–
जियकोहमाणमाया, जियलोभा तेण ते जिणा होंति।
(ख) आ.चू. (द्वि), पृ. ४– रागदोसजयाज्जिना:।

७. आ.नि. गा. १०७८–
चउवीसं ति य संखा, उसभादीया उ भण्णमाणा उ।
अविसद्दग्गहणा पुण, एरवयमहाविदेहेसुं।।

८. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ३– अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थ:।

९. आ.चू. (द्वि) पृ. ९– अपिशब्दो सव्वेसिं एतद् गुणवत्वं ख्यापयति।

१०. आ.नि.गा. १०७९–
कसिणं केवलकप्पं, लोगं जाणंति तह य पासंति।
केवलचरित्तनाणी, तम्हा ते केवली होंति।।

११. ठाणं, ३/५१३–तओ केवली पण्णत्ता, तं जहा– ओहिणाणकेवली, मणपज्जवणाणकेवली, केवलणाणकेवली।

१२. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ३– कीर्तयिष्यामीति–स्वनामभि: स्तोष्य इत्यर्थ:।

१३. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ८– जेण भगवओ दोसु वि ऊरूसु उसभा उप्पराहुत्ता जेणं च मरुदेवाए भगवईए चोद्दसण्हं महासुमिणाणं पढमो उसभो सुमिणे दिट्ठोत्ति, तेण तस्स उसभोत्ति णामं कयं, सेसतित्थगराणं मायरो पढमं गयं तओ वसहं एवं चोद्दस।

8. अजित (अजिय)

भगवान् अजित के माता-पिता दोनों द्यूत खेल रहे थे। प्रत्येक बार राजा की ही विजय होती थी। जब भगवान् अजित गर्भ में आये तब से उनकी माता ही द्यूत-क्रीड़ा में विजित होने लगी। अत: उसने अपने पुत्र का नाम अजित रखा।[1]

9. संभव (संभव)

भगवान् संभव जब गर्भ में आये तब अत्यधिक धान्य की उत्पत्ति हुई। अत: उनका नाम संभव रखा गया।[2]

10. अभिनन्दन (अभिणंदण)

भगवान् अभिनन्दन जब गर्भ में आये तब से इन्द्र उन्हें बार-बार अभिनन्दन करने लगा अत: उनका नाम अभिनन्दन रखा गया।[3]

11. सुमति (सुमइ)

भगवान् सुमति जब गर्भ में आये तब उनकी माता के विनिश्चयों में सुमति उत्पन्न हुई अत: उनका नाम सुमति रखा गया।[4] इस विषय में टीकाकार तथा चूर्णिकार[5] ने एक घटना का भी उल्लेख किया है। वह घटना इस प्रकार है–

अयोध्या नगर में एक सेठ के दो पत्नियां थीं। एक के एक पुत्र था। सेठ दिवंगत हो गया। प्रेमपूर्वक रहने वाली दोनों पत्नियों में कलह होने लगा। कलह शांत न होने पर वे दोनों महारानी मंगला के पास पहुंची और अपने कलह का कारण बताते हुए एक ने कहा– यह पुत्र मेरा है। दूसरी ने कहा– यह पुत्र मेरा है। रानी ने कलह की गंभीरता को समझा और कहा– देखो, मैं गर्भवती हूं। मेरा पुत्र जब यौवनस्थ हो जाएगा तब वह यहां अवस्थित अशोक वृक्ष के नीचे तुम्हारा कलह मिटा देगा। तब तक तुम लड़के को मेरे पास रहने दो। एक ने कहा– मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार है। दूसरी, जो यथार्थ में पुत्र की माता थी, बोली– ऐसा न करें। हमारे कलह का निवारण अभी करें। रानी ने गर्भस्थ शिशु के प्रभाव से निर्णय कर बालक को मूल माता को सौंप दिया।

(किंवदन्ती के अनुसार यह भी माना जाता है कि रानी ने कहा– बच्चे के दो टुकड़े कर दोनों को एक-एक दे दो। यह सुनते ही सौत यह सोचकर प्रसन्न हुई कि यह बच्चे के शोक से जलभुनकर मर जायेगी। अच्छा ही होगा। दूसरी ने सोचा– बच्चे की मौत हो जाने से मुझे क्या लाभ मिलेगा ? यदि यह बच्चा मेरी सौत के पास रहेगा तो मैं यदा-कदा उसका मुंह तो देख पाऊंगी। वह रोने लगी और रानी से बोली– यह बच्चा मुझे नहीं चाहिए। इसे मारो मत। मेरी सपत्नी को ही सौंप दो। रानी ने दोनों के मनोभावों को पढ़कर यह जान लिया कि बच्चे की असली मां कौन है। बच्चा उसी को सौंप दिया और उस सौत को उपालम्भ देकर उसकी ताड़ना की।)

12. पद्मप्रभ (पउमप्पह)

जब भगवान् पद्मप्रभ गर्भ में आये तब उनकी माता को कमल की शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ। हितैषी देव ने कमल की शय्या का निर्माण कर उसका दोहद पूर्ण किया। भगवान् का वर्ण भी पद्म जैसा था, अत: उनका नाम पद्मप्रभ रखा गया।[6]

13. सुपार्श्व (सुपास)

सभी तीर्थंकरों की माताओं के दोनों पार्श्व सुन्दर होते हैं किन्तु भगवान् सुपार्श्व की माता पृथ्वी के दोनों पार्श्व विषम एवं असुंदर थे। किन्तु जब भगवान् सुपार्श्व गर्भ में आये तब उनके अनुभाव से उनकी माता के दोनों पार्श्व सम और सुन्दर हो गये, अत: उनका नाम सुपार्श्व रखा गया।[7]

14. चन्द्रप्रभ (चंदप्पह)

जब भगवान् चन्द्रप्रभ गर्भ में आये तब उनकी माता को चन्द्र-पान का दोहद उत्पन्न हुआ तथा चन्द्रप्रभ का वर्ण भी चंद्रमा के जैसा था, अत: उनका नाम चन्द्रप्रभ रखा गया।[8]

15. सुविधि (सुविहि)

पुष्पदन्त सुविधि प्रभु का दूसरा नाम था।[9] जब भगवान् सुविधि

---

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. १०–द्यूतं रमंति पुव्वं राया जिणियाइओ गब्भे आभूते माता जिणति सदावित्ति तेण अक्खेसु अजित त्ति अजितो जातो।
(ख) आ.नि. गा. १०८०–
अक्खेसु जेण अजिता, जणणी अजितो जिणो तम्हा।।

२. वही, गा. १०८१ तथा उसकी वृत्ति–
अभिसंभूता सासत्ति, संभवो तेण वुच्चई भयवं।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय-गब्भगए जेण अब्भहिया सस्सणिप्फत्ती जाया तेण संभवो।

३. वही, गा. १०८१ तथा उसकी वृत्ति–अभिणंदती अभिक्खं सक्को अभिणंदणो तेण। तथा च वृद्धसम्प्रदाय:-गब्भप्पभिइ अभिक्खणं सक्को अभिणंदियाइओ त्ति, तेण से अभिणंदणो त्ति णामं कयं।

४. वही, गा. १०८२–
जणणी सव्वत्थ विणिच्छएसु सुमति त्ति तेण सुमति जिणो।

५. (क) आ.हा. वृ. (द्वि) पृ. ९। (ख) आ.चू. (द्वि) पृ. १०

६. आ. नि. गा. १०८२– पउमसयणंमि जणणीइ डोहलो तेण पउमाभो।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– गब्भगए देवीए पउमसयणंमि डोहलो जाओ, तं च से देवयाए सज्जियं, पउमवण्णो य भगवं, तेण पउमप्पहोत्ति।

७. आ.चू. (द्वि) पृ. १०–
सव्वेसिं सोभणा पासा तित्थकरमातूणं च, विसेसो माताए गुव्विणीए सोभणा पासा जातत्ति, पढमं विकुक्षिया आसी।

८. आ.नि. गा. १०८३–
जणणीय चंदपियणम्मि डोहलो तेण चंदाभो। तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– देवीए चंदपियणंमि डोहलो चंदसरिसवण्णो य भगवं तेण चंदप्पभोत्ति।

९. (क) आ.नि.दी. (प्र) पृ. २२५
सुविहिं च पुष्फदंतं ति सुविधेर्द्वितीयं नाम।
(ख) अभिधानचिन्तामणि (नाममाला) १/२९
सुविधिस्तु पुष्पदन्तो.....।

गर्भ में आये तब से उनकी माता सभी कार्यों में कुशलता प्राप्त करने लगी। अत: बालक का नाम सुविधि रखा गया।[1]

16. शीतल (सीयल)

भगवान् शीतल के पिता महाराजा दृढरथ पित्तदाह रोग से पीड़ित थे। औषधोपचार से भी वह शान्त नहीं हुआ किन्तु गर्भवती माता नन्दा के स्पर्श मात्र से वह दाहरोग उपशांत हो गया।[2] अत: बालक का नाम शीतल रखा गया। जो सभी प्राणियों के संताप को दूर करने वाला तथा आनन्द करने वाला है, वह शीतल है।[3]

17. श्रेयांस (सिज्जंस)

भगवान् श्रेयांस के पिता के पास परम्परागत एक देवपरिगृहीत शय्या थी। उसकी पूजा की जाती थी। जो उस पर बैठता वह देव-उपद्रव का भागी होता। भगवान् श्रेयांस के गर्भ में आने पर उनकी माता को उस शय्या पर बैठने का दोहद उत्पन्न हुआ। देवता उस शय्या पर किसी को बैठने नहीं देता था। रानी उस पर बैठ गई। देवता आया और रुदन कर चला गया। तीर्थंकर को गर्भस्थ जानकर देव ने उसको कष्ट नहीं दिया। इस प्रकार उसका श्रेय हुआ। अत: माता ने अपने पुत्र का नाम श्रेयांस रखा।[4]

18. वासुपूज्य (वासुपुज्ज)

संस्कृत में वसु शब्द के दो अर्थ हैं– देव और रत्न। चूर्णिकार और टीकाकार ने इन दोनों अर्थों को ग्रहण कर वासुपूज्य नाम के साथ संगति बिठाई है। भगवान् वासुपूज्य जब गर्भ में आये तब से वासव– देवराज इन्द्र उनकी माता की बार-बार पूजा करने लगा तथा वासव– वैश्रमण (कुबेर) ने राज्य भांडागार को रत्नों से परिपूरित कर दिया। इन कारणों से बालक का नाम वासुपूज्य रखा गया।[5]

19. विमल (विमल)

गर्भगत शिशु के प्रभाव से माता श्यामा का शरीर और बुद्धि विमल होती गई। अत: बालक का नाम विमल रखा गया।[6]

20. अनन्त (अणंत)

भगवान् अनन्त जब गर्भ में आये तब उनकी माता ने अनन्त–अन्त रहित विशाल प्रमाण वाली रत्नजटित माला को स्वप्न में देखा था अत: उनका नाम अनन्त रखा गया।[7]

21. धर्म (धम्म)

भगवान् धर्म जब गर्भ में आये तब से उनकी माता विशेष रूप से दान-दया आदि कर्त्तव्यों में जागरूक हुई अत: उनका नाम धर्म रखा गया।[8]

आवश्यक चूर्णि के अनुसार भगवान् धर्म के गर्भ में आने के पूर्व उनके माता-पिता श्रावक धर्म का पालन दृढ़ता से नहीं कर पा रहे थे। भगवान् धर्म के गर्भ में आने के बाद वे श्रावक धर्म पालन में दृढ़ हुए, अत: बालक का नाम धर्म रखा गया।[9]

22. शान्ति (संति)

भगवान् शान्ति के गर्भ में आने पर एक बहुत बड़ा उपद्रव शान्त हुआ अत: उनका नाम शान्ति रखा गया।[10] कौन-सा उपद्रव शान्त हुआ इस विषय में चूर्णिकार और टीकाकार ने किसी घटना का उल्लेख नहीं किया है। परम्परागत ऐसा कहा जाता है– हस्तिनापुर नगर में महामारी का भयंकर प्रकोप हुआ। महारानी अचिरा देवी भी उससे आक्रान्त हो गई। भगवान् शान्ति के गर्भ में आने पर रानी का रोग शान्त हो गया तथा धीरे-धीरे सारे देश से महामारी समाप्त हो गई अत: बालक का नाम शान्ति रखा गया।

---

१. आ.नि., गा. १०८४–
सव्वविहीसु य कुसला, गब्भगते तेण होति सुविधिजिणो।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– भगवंते गब्भगए सव्वविहीसु चेव विसेसओ कुसला जणणित्ति जेण तेण सुविहित्ति णामं कयं।

२. वही, गा. १०८४–
पिउणो दाहोवसमो, गब्भगते सीतलो तेणं।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– पिउणो पित्तदाहो पुव्वुप्पण्णो ओसहेहिं ण पउणति, गब्भगए भगवंते देवीए परामुट्ठस्स पउणो, तेण सीयलोत्ति।

३. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. ९– तत्र सकलसत्त्वसन्तापकरणविरहादाह्लाद-जनकत्वाच्च शीतल इति।

४. आ.चू. (द्वि) पृ. १०– विसेसो तस्स रण्णो परंपरागता सेज्जा, देवताए परिग्गहिता, अच्चिजंति अच्छति, न कस्सति ढोकं देति, देवीए गब्भगते दोहलो, तं सेज्जं विलग्गा, देवता रडितूण पलाता, तेण सेज्जंसो।

५. (क) आ.हा. वृ. (द्वि.), पृ. ९– वासवो देवराया तस्स गब्भगयस्स अभिक्खणं अभिक्खणं जणणीए पूयं करेइ, तेण वासुपुज्जोत्ति।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय: अहवा वसूणि– रयणाणि वासवो– वेसमणो सो गब्भगए अभिक्खणं अभिक्खणं तं रायकुलं रयणेहिं पूरेइ त्ति वासुपुज्जो।
(ख) आ. चू. (द्वि.) पृ. १०

६. आ.नि.गा. १०८६–विमलतणुबुद्धि जणणी, गब्भगते तेण होति विमलजिणो।
गब्भगए मातूए सरीरं बुद्धी य अतीव विमला जाया तेण विमलोत्ति।

७. आ.चू. (द्वि) पृ. १०–माताए सुविणए अणंतं महंतं रतणचितं दामं दिट्ठं अंतो से नत्थि तेण अणंतई।

८. आ.नि. गा. १०८७–
गब्भगते जं जणणी, जात सुधम्म त्ति तेण धम्मजिणो।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय– गब्भगए भगवंते विसेसओ से जणणी दाणदयाइएहिं अहिगारेहिं जाया सुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो भगवं।

९. आ.चू. (द्वि) पृ. ११– अम्मापितरो सावगधम्मे भुज्जो चुक्के खलंति, उववण्णे दढव्वताणि।

१०. आ.नि. गा. १०८७–
जातो असिवोवसमो, गब्भगते तेण संतिजिणो।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– महंतं असिवं आसि, भगवंते गब्भमागए उवसंतं ति।

23. कुन्थु (कुंथु)

गर्भवती माता 'श्री' ने स्वप्न में कु–भूमि पर स्थित थूह-रत्नों का विशाल स्तूप देखा, इसलिए बालक का नामकरण हुआ–कुन्थु।[१]

24. अर (अर)

भगवान् अर जब गर्भ में आये तब उनकी माता ने एक सुन्दर, विशाल अर (चक्र) को देखा अत: उनका नाम 'अर' रखा गया।[२] जो सर्वोत्तम और महाशक्तिशाली कुल में उसकी अभिवृद्धि के लिए उत्पन्न होता है, उसे भी 'अर' कहा जाता है।[३]

25. मल्लि (मल्लि)

भगवान् मल्लि जब गर्भ में आये तब उनकी माता प्रभावती को सब ऋतुओं के सुगंधित फूलों से बनी शय्या पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ। देवता ने उसका दोहद पूर्ण किया। अत: उत्पन्न बालिका का नाम मल्लि रखा गया।[४]

जो परीषह तथा राग-द्वेष आदि मल्लों को जीतता है, वह मल्लि है।[५]

26. मुनिसुव्रत (मुणिसुव्वय)

भगवान् मुनिसुव्रत के गर्भ में आने पर उनकी माता सुव्रता (व्रतपरायण) हुई। अत: उनका नाम मुनि सुव्रत रखा गया।[६] आवश्यकचूर्णि के अनुसार माता-पिता दोनों सुव्रत (व्रतपरायण) हुए थे।[७]

27. नमि (नमि)

भगवान् नमि गर्भस्थ थे। उस समय अचानक शत्रु राजाओं ने उनके नगर पर आक्रमण कर दिया। गर्भ के प्रभाव से उनकी माता वप्रा के मन में महल की अट्टालिका (छत) पर जाने की इच्छा हुई। वह वहां गई। उसे देखकर शत्रु राजा नत हो गये। अत: उनका नाम नमि रखा गया।[८]

28. अरिष्टनेमि (रिट्ठनेमि)

भगवान् अरिष्टनेमि जब गर्भ में आये तब उनकी माता शिवा ने स्वप्न में अरिष्टरत्नमय विशाल नेमि (चक्रधारा) को ऊपर उठते हुए देखा। अत: उनका नाम अरिष्टनेमि रखा गया।[९]

अरिष्टनेमि स्वर लक्षणों से युक्त, एक हजार आठ शुभ लक्षणों का धारक, गौतम गोत्री और श्याम वर्ण वाला था। वह वज्रऋषभनाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान वाला था। उसका उदर मछली के उदर जैसा था।[१०]

29. पार्श्व (पास)

भगवान् पार्श्व जब गर्भ में आए तब उनकी माता ने स्वप्न में एक सात सिर वाले सर्प को शय्या के पास से गुजरते हुए देखा। शय्या से बाहर निकली हुई राजा की भुजाओं को पुन: शय्या पर लाते समय राजा जग गया। रानी ने कहा– यह सर्प जा रहा है। राजा ने पूछा– तुमने अंधकार में कैसे जाना ? उसने कहा– मैं सांप को प्रत्यक्ष देख रही हूं। राजा ने दीपक के प्रकाश में देखा। उसे सर्प दिखाई दिया। राजा ने सोचा– इस घोर अंधकार में भी इसने गर्भ के अतिशय प्रभाव से ही सर्प को पास से गुजरते हुए देखा है, अत: पुत्र का नाम पार्श्व रखा जाना उचित है। पुत्र का नाम पार्श्व

---

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ११– कु त्ति भूमी ताए वसुहाए सव्वे भूमिट्ठिता आसी, विसेसो माताए थूभो सव्वरतणामतो सुविणे दिट्ठो भूमित्थो तेण कुंथू।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०–इदानीं कुंथू– तत्र कु:– पृथ्वी तस्यां स्थितवानिति कुस्थ:।

२. आ.नि.गा. १०८८– सुमिणे अरं महरिहं, पासति जणणी अरो तम्हा।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– गब्भगए मायाए सुमिणे सव्वरयणमओ अइसुंदरो अइप्पमाणो य जम्हा अरओ दिट्ठो तम्हा अरो त्ति से णामं कयं ति।

३. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०– तत्र सर्वोत्तमे महासत्त्वकुले य उपजायते। तस्याभिवृद्धये वृद्धैरसावर उदाहृत:।।

४. आ.नि. गा. १०८९–
वरसुरहिमल्लसयणम्मि डोहलो तेण होति मल्लिजिणो।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– गब्भगए माऊए सव्वोउगवरसुरहिकुसुममल्ल-सयणिज्जे दोहलो जाओ, सो य देवयाए पडिसंमाणिओ दोहलो, तेण से मल्लि त्ति णामं कयं।

५. आ.हा.वृ. (द्वि.) पृ. १०–सव्वेहिं पि परीसहमल्ल रागदोसा य णिहयत्ति।

६. आ.नि. गा. १०८९–
जाता जणणी जं सुव्वय त्ति मुणिसुव्वतो तम्हा।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– गब्भगए णं माया अईव सुव्वया जायत्ति तेण मुणिसुव्वओ त्ति णामं।

७. आ.चू. (द्वि) पृ. ११–गब्भगते माता पिता य सुव्वता जाता।

८. आ नि. गा. १०९०–
पणता पच्चंतनिवा दंसियमित्ते जिणम्मि तेण नमी।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– उल्लिएहिं पच्चंतपत्थिवेहिं णायरे रोहिज्जमाणे अण्णराईहिं देवीए कुच्छिए णमी उववण्णो, ताहे देवीए गब्भस्स पुण्णसत्तीचोइयाए अट्टालमारोढुं सद्धा समुप्पण्णा, आरूढा य दिट्ठा परपत्थिवेहिं, गब्भप्पभावेण य पणया सामंतपत्थिवा, तेण से णमि त्ति णामं कयं।

९. वही, गा. १०९०–
रिट्ठरयणं च नेमिं, उप्पयमाणं ततो नेमी।।
तथा च वृद्धसम्प्रदाय:– गब्भगए तस्स मायाए रिट्ठरयणामओ महइमहालओ णेमी उप्पयमाणो सुमिणे दिट्ठोत्ति, तेण से रिट्ठणेमि त्ति णामं कयं।

१०. उत्तराध्ययन २२/५,६–
सोऽरिट्ठनेमिनामो उ लक्खणस्सरसंजुओ।
अट्ठसहस्सलक्खणधरो, गोयमो कालगच्छवी।।
वज्जरिसहसंघयणो, समचउरंसो झसोयरो।

रखा गया।[१] आवश्यक चूर्णि में केवल सर्प का ही उल्लेख है, उसके सात सिर का नहीं।[२]

जो सब भावों की पश्यना-परिज्ञान करता है, वह पश्यक–पार्श्व है।[३]

30. वर्द्धमान (वद्धमाण)

भगवान् वर्द्धमान जब गर्भ में आये तब से ज्ञात कुल की समृद्धि बढने लगी। अतः उनका नाम वर्द्धमान रखा गया।[४]

जन्म से लेकर जिसके ज्ञान आदि गुण बढ़ते रहते हैं, वह वर्द्धमान है।[५]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने सभी तीर्थंकरों के व्युत्पत्तिलभ्य नाम की संगति सभी के साथ प्रस्तुत की है।

31. कर्म-रज मल (रयमला)

चूर्णिकार ने रज और मल के चार-चार अर्थ किये हैं[६]–

रज	मल
१. कर्मप्रायोग्य पुद्गल	१. बद्ध कर्म
२. बध्यमान कर्म	२. पूर्व उपार्जित कर्म
३. बद्ध कर्म	३. निकाचित कर्म
४. ईर्यापथिकी कर्म।	४. साम्परायिक कर्म।

32. जिनवर तीर्थंकर (जिणवरा तित्थयरा)

जिनवर का अर्थ है केवली और तीर्थंकर का अर्थ है तीर्थ की स्थापना करने वाले। प्रत्येक तीर्थंकर केवली होते हैं, परन्तु प्रत्येक केवली तीर्थंकर नहीं होते। तीर्थंकर नामगोत्र कर्म को भोगने वाले ही तीर्थंकर होते हैं। जिन तीन प्रकार के होते हैं– अवधिज्ञानी जिन, मनःपर्यवज्ञानी जिन और केवलज्ञानी जिन।[७] उनसे व्यवच्छित्ति करने के लिए जिनवर के साथ तीर्थंकर शब्द की युति की गई है।

33. आरोग्य (आरोग्ग)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने आरोग्य का अर्थ क्रमशः मोक्ष और सिद्धत्व किया है।[८]

34. बोधिलाभ (बोहिलाभं)

बोधि तीन प्रकार की होती है– ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि।[९] बोधि का एक अर्थ है– सम्यक् दर्शन की प्राप्ति का क्षण।[१०] आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है– जो बोधि को प्राप्त कर उसके अनुसार आचरण नहीं करता और अनागत बोधि की आकांक्षा करता है, उसे भला किस मूल्य पर बोधि प्राप्त होगी ? किसी मूल्य पर नहीं।[११] इसलिए साधक को प्राप्त बोधि का उपयोग करना चाहिए। जो व्यक्ति श्रामण्य से च्युत हो गया है, उसे बोधि की प्राप्ति दुर्लभ है। वह उत्कर्षतः अपार्धपुद्गलपरावर्त्तन तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[१२] **बोधि के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य ठाणं ३।१७६ का टिप्पण।**

35. उत्तम समाधि (समाहिवरं)

समाधि दो प्रकार की है– द्रव्य समाधि और भाव समाधि।

द्रव्य समाधि– द्रव्य से होने वाली मनःतुष्टि।

भाव समाधि– समभाव में रमण। वैसा समभाव जो राग-द्वेष से उपहत न हो, मरणकाल में जो स्वीकृत मार्ग से दूर न करे, जो ध्यानश्रेणी को ध्वस्त न करे। इस समभाव में भी तरतमता होती हे। अतः यहां समाधि को 'उत्तम' शब्द से विशेषित किया है।[१३]

प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया है

---

१. आ.नि. गा. १०९१–
सप्पं सयणे जणणी, तं पासइ तमसि तेण पासजिणो।।
तथा च वृद्धसम्प्रदायः-गब्भगए भगवंते तेलोक्कबंधवे सत्तसिरं णागं सयणिज्जे णिविज्जणे माया से सुविणे दिट्ठत्ति, तहा अंधकारे सयणिज्जगयाए गब्भप्पभावेण य एंतं सप्पं पासिऊणं रण्णो सयणिज्जे णिग्गया बाहा चडाविया भणिओ य–एस सप्पो वच्चइ, रण्णा भणियं– कहं जाणसि ? भणइ– पेच्छामि, दीवएण पलोइओ, दिट्ठो य सप्पो, रण्णा चिंता गब्भस्स एसो अइसयप्पहावो जेण एरिसे तिमिरांधयारे पासइ, तेण पासोत्ति णामं कयं।

२. आ.चू. (द्वि) पृ. ११

३. आ.हा.वृ. (द्वि.) पृ. ११–पश्यति सर्वभावानिति पार्श्वः, पश्यक इति चान्ये।

४. आ.नि. गा. १०९१
वड्ढति णातकुलम्मि य, तेण जिणो वद्धमाणो त्ति।
तथा च वृद्धसंप्रदायः गब्भगएणं भगवया णायकुलं विसेसेण धणेणं वड्ढियाइयं तेण से णामं कयं वद्धमाणे त्ति।

५. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. ११–उत्पत्तेरारभ्य ज्ञानादिभिर्वर्धत इति वर्धमानः।

६. आ.चू. (द्वि), पृ. ११–कम्मपायोगो रयो बद्धो मलो, अहवा रयो वद्धमाणो मलो पुव्वोवचितो, अहवा बद्धो रयो निकाइयो मलो अहवा इरियावहितं रयो संपराइयं मलो।

७. ठाणं, ३/५१२– तओ जिणा पण्णत्ता, तं जहा– ओहिणाणजिणे, मणपज्जवणाणजिणे, केवलणाणजिणे।

८. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. १२– आरोग्गं– मोक्खो।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १२– आरोगस्य भाव-आरोग्यं– सिद्धत्वं।

९. ठाणं, ३/१७६–तिविहा बोही पण्णत्ता-तं जहा-णाणबोधी, दंसणबोधी, चरित्तबोधी।

१०. सूयगडो, वृ. पृ. ७७– बोधिं च सम्यग्दर्शनावाप्तिक्षणम्।

११. आ.नि. गा. ११००
लद्धेल्लियं च बोधिं अकरिंतोऽणागतं च पत्थंतो।
अन्नंदाइं बोधिं लब्भिसि कतरेण मोल्लेणं।।

१२. सूयगडो चूर्णि, पृ. ७५– विराहितसामण्णस्स हि दुल्लभा बोधी भवति, अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं उक्कोसेणं हिंडति।

१३. आ.चू. (द्वि), पृ. १२–दव्वसमाधी यमुद्धियं दव्वं यं वा सुसंगोवितं, भावसमाधि नाम यो रागद्दोसेहिं नावहीरति, मरणकाले वा मग्गमारूढो न ओरुभति, झाणसेढीओ वा ण पल्हत्थति, सो तस्स समाधीए वरो, तस्स वि अणेगाइं तारतम्माइं तेण उत्तमग्गहणं।

कि जिनके राग, द्वेष क्षीण हो गये हैं वे न समाधि देते हैं और न बोधि। तब उन्हें क्यों नमस्कार किया गया है और उनसे क्यों याचना की गई है? समाधान की भाषा में वे कहते हैं– जिस प्रकार अग्नि न किसी को तुष्ट करती है और न कुछ देती है, फिर भी शीत से पीड़ित व्यक्ति को वह आह्लादित कर देती है और वह व्यक्ति अपने कार्य को निष्पन्न कर लेता है। उसी प्रकार क्षीणरागद्वेष वाली आत्मा न किसी पर तुष्ट होती है और न किसी को कुछ देती है पर उन्हें नमस्कार करने वाला व्यक्ति इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेता है।[1]

भाषा (कथन) के चार प्रकार हैं– सत्य, असत्य, मिश्र और व्यवहार। असत्यामृषा अर्थात् व्यवहार भाषा के बारह प्रकार हैं।[2] उनमें तीसरी भाषा है– याचनी अर्थात् किसी विशेष वस्तु की याचना करना। यह व्यवहार भाषा है। प्रस्तुत प्रसंग में सिद्धों से जो आरोग्य आदि की मांग की गई है, वह मात्र व्यवहार साधक है, व्यवहार भाषा का प्रयोग मात्र है।

भगवती आराधना में भी इन बारह भाषाओं का विवरण प्राप्त होता है।[3]

---

१. आ.चू. (द्वि), पृ. १२–जथा अग्गी न तूसति न वा देति तह वि जो सीतपरीगतो सो अल्लियति, सो य सकज्जं निप्फाएति, एवं ते वि खीणरागदोसमोहा न किंचि वि देंति, न वा तूसंति, जो पुण पणमति सो इच्छितमत्थं लभति।

२. पण्णवणासुत्तं, ११/३७– असच्चामोसा णं.....दुवालसविहा पण्णत्ता, तं जहा–
आमंतणि आणमणी, जायणि तह पुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा, भासा इच्छाणुलोमा य।। १।।
अणभिग्गहिया भासा, भासा य अभिग्गहम्मि बोधव्वा।
संसयकरणी भासा, वोयड अव्वोयडा चेव।। २।।

३. भगवती आराधना, गाथा ११९५-११९६

तइयं अज्झयणं : तीसरा अध्याय

वंदणयं : वन्दनक

आमुख

भगवान् से पूछा गया—वन्दना करने से क्या प्राप्त होता है? भगवान् ने कहा—'वन्दना से जीव नीच कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है। ऊंचे कुल में उत्पन्न होने वाले कर्म का अर्जन करता है। जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त करता है।'[१]

वन्दना के पांच पर्यायवाची हैं—

१. वन्दना—अभिवादन, स्तुति।

२. चितिकर्म—कुशल कर्म का चय। रजोहरण आदि उपधि की क्रिया।

३. कृतिकर्म—अवनाम, आवर्त्त आदि क्रियाएं।

४. पूजाकर्म—प्रशस्त मन, वचन और काया की चेष्टा।

५. विनयकर्म—कर्म का अपनयन, गुरु आदि का विनय।[२]

वन्दना के दो भेद है—द्रव्य वन्दन और भाव वन्दन।

१. द्रव्य वन्दन—मिथ्यादृष्टि और अनुपयुक्त सम्यग्दृष्टि के द्वारा किया जाने वाला वन्दन।

२. भाव वन्दन—उपयुक्त सम्यक् दृष्टि के द्वारा किया जाने वाला वन्दन।[३]

आवश्यक निर्युक्तिकार ने वन्दनीय कौन? इसका स्पष्ट निदर्शन किया है—जो मुनि पांच महाव्रतों से युक्त, जागरूक, निरभिमान, वैराग्यसम्पन्न और निर्जरार्थी होते हैं, वे साधु कृतिकर्म के योग्य हैं।[४]

वन्दना के ३२ दोष हैं।[५]

१. अनादृत—अनादरपूर्वक वन्दना करना।[६]

२. स्तब्ध—गर्व से उद्धत हो वन्दना करना।[७]

३. प्रविद्ध—वन्दना करते-करते बीच में ही भाग जाना।[८]

४. परिपिंडित—(क) कालप्रगत सभी मुनियों को मेरी वन्दना, यह कहते हुए वन्दना करना। (ख) आवर्त्त का विच्छेद न होने पर भी स्तुति करते हुए वन्दना करना। (ग) घुटनों का स्पर्श करते हुए वन्दना करना। (घ) झुककर अंगों का उत्पीडन-संपीडन करते हुए वन्दना करना।[९]

---

१. उत्तराध्ययन २९/११

२. आ. नि. गा. ११०३—वंदणचिइकिइकम्मं पूयाकम्मं य विणयकम्मं च।

३. आ. हा. वृ. (द्वि) पृ. १५— वन्दनकर्म द्विधा—द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यतो मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्तसम्यग्दृष्टेश्च, भावतः सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य।

४. आ. नि. गा. ११९७
पंचमहव्वयजुत्तो, अणलस माणपरिवज्जितमतीओ।
संविग्ग-निज्जरट्ठी कितिकम्मकरो हवइ साधू।।

५. आ. चू. (द्वि.) पृ. ४२—बत्तीसं दोसा, अणाढियं....।

६. वही, पृ. ४२—अणाढियं नाम अणादरेण वंदति।

७. वही, पृ. ४२—थद्धं अट्ठण्हं अण्णतरेण मत्तो।

८. वही, पृ. ४२—पविद्धं वंदणगं देंतओ चेव उट्ठेत्ता णासति।

९. वही, पृ. ४२,४३—परिपिंडितं भणति एतं भे सव्वस्स चेव कालप्पगतस्स वंदणगं, अहवा न वोच्छिण्णो आवत्ते वंजणाणि वा करेति पिंडलओ वा जाहओ वंदति, संकुयओ उप्पीलणसंपीलणाए वा वंदति।

५. टोलगति–ऊंट जैसे उठकर एक-दूसरे के पास चला जाता है, वैसे इधर-उधर जाते हुए[1] वन्दना करना अथवा टिड्डी की तरह फुदक-फुदक कर वन्दना करना।[2]

६. अंकुश–(क) रजोहरण को हाथ में लेकर कहना–यहां बैठो, मैं तुम्हें वन्दना करता हूं, ऐसा कहकर वन्दना करना। (ख) दोनों हाथों से अंकुश की भांति रजोहरण को पकड़कर वन्दना करना।[3]

७. कच्छभरिंगित–कछुए की भांति रेंगते हुए वन्दना करना।[4]

८. मत्स्योद्वर्त–एक को वन्दन कर मत्स्य की भांति शीघ्रता से दूसरे मुनि को पार्श्व परिवर्तन कर रेचकावर्त की मुद्रा में वन्दन करना।[5]

९. मनसा प्रदुष्ट–मन से दूसरे को हीन मानकर असूया से वन्दन करना अथवा 'इसको मैं एकान्त में वन्दन करूंगा' ऐसा सोचना।[6]

१०. वेदिकाबद्ध–(क) घुटनों पर हाथ रखकर वन्दन करना। (ख) घुटनों के नीचे हाथ रखकर वन्दन करना। (ग) घुटनों के पार्श्व में हाथ रखकर वन्दन करना। (घ) गोद में हाथों को रखकर वन्दन करना। (ङ) एक घुटने को दोनों हाथों के बीच रखकर वन्दन करना।[7]

११. भय–संघ, कुल, गण, गच्छ तथा क्षेत्र से मुझे कोई निकाल न दे–इस भय से वन्दन करना।[8]

१२. भजत्–यह हमारी भक्ति करता है, इसलिए हम भी इसकी प्रतिभक्ति करें इस भावना से वन्दन करना।[9]

१३. मैत्री–यह मेरा मित्र है अथवा मैं इसके साथ मित्रता करूं–यह सोचकर वन्दन करना।[10]

१४. गौरव–गौरव के लिए वन्दन करना–यह सोचना कि ये मुझे जानें कि मैं सामाचारी में कुशल हूं।[11]

१५. कारण–यह मुझे सूत्र, अर्थ, वस्त्र, पुस्तक देगा–इस प्रयोजनवश वन्दना करना।[12]

१६. स्तैन्य–(क) अपने आपको गुप्त रखकर चोर की भांति वन्दन करना।[13] (ख) यदि देखता है तो वन्दन करता है, अंधकार के कारण नहीं देखता है तो वन्दन नहीं करता।[14]

१७. प्रत्यनीक–गुरुओं को संज्ञाभूमि में जाते समय या आहार करते समय वन्दन करना।[15]

१८. रुष्ट–क्रोधावेश में वन्दन करना।[16]

१९. तर्जित–(क) तुम पत्थर की मूर्ति की भांति न प्रसन्न होते हो और न क्रुद्ध होते हो–इस प्रकार तर्जना करते हुए वन्दन करना। (ख) अंगुली से तर्जना करते हुए वन्दन करना।[17]

---

१. आ. चू. (द्वि.) पृ. ४३–टोलगति टोलो जथा उड्डेत्ता अण्णमण्णस्स मूलं जाति।

२. आ. हा. वृ. (द्वि.) ३६–टोलगति तिड्डुवदुत्प्लुत्य।

३. आ. चू. (द्वि.) ४३–अंकुसो रयहरणं गहाय भणति निवेस जा ते वंदामि, अहवा दोहि वि हत्थेहिं अंकुसं जथा गहाय भणति वंदामि।

४. आ. हा. वृ. (द्वि.) पृ. ३६–कच्छभरिंगियं कच्छपवत् रिङ्गितं कच्छपवत् रिङ्गन् वन्दत इति।

५. आ.चू. (द्वि.) पृ. ४३–मच्छुव्वत्तं एक्कं वंदितूण छड्डति बितिएण पासेंति परियत्तति रेचकावर्तेन।

६. वही, पृ. ४३–मणसापदुट्ठं, सो हीणो केणति, ताहे हियएण चिंतेति एतेण एवग्गतेणं वंदाविज्जामि.....।

७. वही, पृ. ४३–वेदियाबद्धं नाम तं पंचविहं उवरिं जाणुगाणं हत्थे निवेसितूणं वंदति हेट्ठा वा जानूकाणं एगं वा जाणुं अंतो दोण्हं हत्थाणं करेति उच्छंगे वा हत्थे कातूणं वंदति।

८. वही, पृ. ४३–भयसा भएणं वंदति, मा निच्छुब्भिहामि संघातो कुलाओ गणाओ गच्छाओ खेत्ताओ त्ति।

९. वही, पृ. ४३–भयंतं नाम भयति अम्हाणं अम्हे वि पडिभयामोत्ति।

१०. वही, पृ. ४३–मेत्तीए स मम मित्तोत्ति, अहवा मेत्तिं तेण समं काउं मग्गंति।

१०. वही, पृ. ४३–गारवा नाम जाणंतु ता ममं जहेसं सामायारी कुसलो त्ति।

१२. वही, पृ. ४३–कारणं नाम सुत्तं वा अत्थं वा वत्थं वा पोत्थगं वा दाहिति त्ति कज्जनिमित्तं वंदति।

१३. आ. हा. वृ. (द्वि.) पृ. २६–स्तैन्यमिति परेभ्यः खल्वात्मानं गूहयन् स्तेनक इव वन्दते।

१४. आ. चू. (द्वि.) पृ. ४३–तेणियं नाम जदि दीसति तो वंदति, अहवा न दीसति अंधकारो वा ताहे न वंदति।

१५. वही, पृ. ४३–पडिणीयं नाम सण्णभूमं पधाइयं वंदति भोत्तुकामं।

१६. वही, पृ. ४३–रुट्ठं नाम रोसिओ वंदति।

१७. वही, पृ. ४३–तज्जितं नाम भणति–अम्हे तुमं वंदामो, तुमं पुण न वाहिज्जसि न वा पसीदसि जथा थूभो, अंगुलिमादीहिं वा तज्जेंतो वंदति।

२०. शठ–(क) शठता से वन्दन करना। (ख) रोगी होने का बहाना कर सम्यक् वन्दन न करना।[१]

२१. हीलित–तिरस्कार करते हुए वन्दन करना।[२]

२२. पलिकुंचित–वन्दना करते हुए देश, राज, जनपद आदि विकथा करना।[३]

२३. दृष्टादृष्ट–(क) आचार्य आदि के न देखने अथवा अंधकार का व्यवधान होने पर वन्दन करना। (ख) किसी ने देखा या किसी ने नहीं देखा, इस प्रकार शीघ्रता से वन्दन करना।[४]

२४. शृंग–(क) मस्तक के एक पार्श्व से वन्दन करना। (ख) अनेक साधुओं के साथ जैसे-तैसे वन्दन करना।[५]

२५. कर–वन्दना को कर-ऋण मानकर वन्दन करना, निर्जरा मानकर नहीं।[६]

२६. मोचन–वंदना किए बिना इनसे छुटकारा नहीं मिलेगा–यह मानकर वन्दन करना।[७]

२७. आश्लिष्ट-अनाश्लिष्ट–इसके चार विकल्प हैं–(क) हाथों से रजोहरण पकड़ हाथों को शिर पर लगाना। (ख) केवल रजोहरण पकड़ना, शिर पर नहीं लगाना। (ग) हाथों को शिर पर लगाना, रजोहरण को नहीं। (घ) न रजोहरण को हाथों से पकड़ना, न शिर पर लगाना। पहला भंग प्रशस्त है, शेष अप्रशस्त।[८]

२८. न्यून–व्यंजनों और 'आवश्यकों' से न्यून।[९]

२९. उत्तरचूडा–वन्दन कर 'मस्तक से वन्दना करता हूं' इस प्रकार बोलना।[१०]

३०. मूक–आलापकों का उच्चारण न करते हुए वन्दन करना।[११]

३१. ढड्डर–उच्च स्वर से बोलते हुए वन्दना करना।[१२]

३२. चुडली–रजोहरण को पकड़कर अथवा हाथ को लंबा पसारकर वन्दना करना अथवा हाथों को घुमाते हुए 'सबको वन्दना करता हूं' कहते हुए वन्दना करना।[१३] इन बत्तीस दोषों से परिशुद्ध वन्दन करना चाहिए।

वन्दना की छह निष्पत्तियां हैं[१४]–

१. विनय की आराधना।
२. अहंकार का नाश।
३. गुरुजनों की पूजा।
४. तीर्थंकर आज्ञा का पालन।
५. श्रुतधर्म की आराधना।
६. मोक्ष की प्राप्ति।

असंयत वन्दनीय नहीं होते, फिर चाहे माता-पिता, गुरु, सेनापति, प्रशास्ता, राजा और देव भी क्यों न हो।[१५] यही स्वर मूलाचार में इस प्रकार प्रज्ञप्त है–मुनि अविरत माता-पिता व गुरु की, राजा की, अन्यतीर्थ की, या देशविरत की अथवा देवों की या पार्श्वस्थ आदि पांच प्रकार के मुनियों को वन्दना न करे।[१६]

---

१. आ. हा. वृ. (द्वि.) पृ. ३६–शठं शाठ्येन विश्रम्भार्थं वन्दते, ग्लानादिव्यपदेशं वा कृत्वा न सम्यग् वन्दते।
२. वही, पृ. ३६–हीलयित्वा वन्दते।
३. आ. चू. (द्वि.) पृ. ४३–पलिकुंचितं नाम वंदंतो देसरायजणपदविकहाओ करेति।
४. वही, पृ. ४३,४४–दिट्ठमदिट्ठं नाम एवं सिग्घं वंदति जथा केणइ दिट्ठो केणइ न दिट्ठो।
५. वही, पृ. ४४–सिंगं नाम सीसे एगेण पासेण वंदति, अहवा अण्णेहिं साधूहिं समं संगेण जह वा तह वा वंदति।
६. आ. हा. वृ. (द्वि.), पृ. ३६–करं मन्यमानो वन्दते न निर्जरां।
७. आ. चू. (द्वि.), पृ. ४४–मोयणं नाम न अन्नहा मोक्खो एतेण पुण दिण्णेण मुच्चामि त्ति वंदति।
८. वही, पृ. ४४–आलिद्धमणालिद्धं रयणहरणे य निडाले य किंचि आलभति किंचि नालभति, एत्थ चउभंगो, सीसं आलिद्धं रयहरणे आलिद्धं पढमो सुद्धो।
९. वही, पृ. ४४–ऊणं वंजणेहिं आवस्सएहिं वा।
१०. वही, पृ. ४४–उत्तरचूलिया नाम एतेहिं वंजणेहिं आवस्सएहिं वंदित्ता भणति-मत्थएण वंदामित्ति।
११. आ.हा.वृ. (द्वि.) पृ.३६–मूकम् आलापकाननुच्चारयन् वन्दते।
१२. वही, पृ. ३६–ढड्डरं महता शब्देनोच्चारयन् वन्दते।
१३. आ. चू. (द्वि.) पृ. ४४–चुडली नाम चुडलं जथा रयहरणं गहाय वंदति, अहवा दिग्घं हत्थं पसारेति, भणति–वंदामि, अहवा हत्थं भमाडेति, सव्वे भे वंदामित्ति।
१४. आ. नि., गा. १२१५
विणओवयार माणस्स, भंजणा पूयणा गुरुजणस्स।
तित्थयराण य आणा, सुयधम्माराहणाऽकिरिया।।
१५. आ. नि. गा. ११०५
असंजयं न वंदिज्जा, मायरं पियरं गुरुं।
सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि य।।
१६. मूलाचार गा. ५९४
णो वंदिज्ज अविरदं मादा पिहु गुरु णरिंद अण्णतित्थं च।
देसविरद देवं वा, विरदो पासत्थपणगं वा।।

इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है—गुणवान—गुण की पूजा। गुण और गुणी में भेद नहीं होता इसलिए गुणवान की पूजा का उल्लेख है।

प्रस्तुत अध्ययन में गुरु के प्रति शिष्य का कैसा बर्ताव होना चाहिए, इसका सुन्दरतम उपदेश है। इसके अनुसार चलकर साधक अपने जीवन को नम्र और आदर्श बना सकता है। नम्र जीवन एकान्त सुन्दर होता है। अहंकार भावना से जीवन कुटिल और अमिलनसार बन जाता है। निजी आचरणों को सरल बनाना चाहिए, यही इसे पढ़ने का लाभ है। शिष्य गुरु के न अति निकट और न अति दूर खड़ा रहकर गुरु से प्रार्थना करता है—'क्षमाश्रमण! मैं मेरे शरीर को पाप-क्रिया से हटाकर आपको वन्दना करना चाहता हूं। इसलिए आप मुझे आपके चारों ओर शरीर प्रमाण क्षेत्र में, आपका जो स्थान निर्धारित है, उसमें प्रवेश करने की आज्ञा दें।' (गुरु के समीप जाने के लिए गुरु का आदेश लेना शिष्य का कर्त्तव्य है।) जब गुरु शिष्य की विनीत भावना को देखकर उसे वन्दना करने की आज्ञा देते हैं, तब शिष्य वहां उपस्थित होकर फिर गुरु से प्रार्थना करता है—प्रभो! आप मुझे आज्ञा दें, मैं आपके चरण का मस्तक से स्पर्श करूं। (गुरु की आज्ञा लेकर गुरु के चरणों को शिर से स्पर्श करता है) चरण-स्पर्श करने के बाद गुरु से क्षमायाचना करता है। हे गुरुदेव! आपके चरणों को छूने से आपको कष्ट पहुंचा हो तो मैं आपका क्षमा-प्रार्थी हूं।

शिष्य—क्या आपने अक्लान्त अवस्था में रहकर बहुत शुभ क्रियापूर्वक दिन बिताया?

गुरु—हां, मैंने दिन को शुभ अनुष्ठान से सफल किया है।

शिष्य—आपकी संयम यात्रा सब प्रकार की बाधाओं से रहित है? आपका शरीर मन की चंचलता और इन्द्रियों के विकारों से अबाधित है?

इसके बाद शिष्य अपने अपराध की क्षमायाचना करता हुआ कहता है—'क्षमाश्रमण! दिन या रात में, जान या अनजान में आपका कोई भी अपराध किया हो तो उसके लिए आप मुझे क्षमा करें। भगवन्! आप मुझे आज्ञा दें—अपनी आवश्यक क्रियाओं के प्रतिकूल जो कोई आचरण किया हो उससे मैं निवृत्त होऊं। क्षमाश्रमण! तैंतीस प्रकार की आशातनाओं में आपकी कोई भी दिन-सम्बन्धी या रात्रि-सम्बन्धी आशातना से मैंने अतिचार सेवन किया हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूं।' अविनय होने के कारणों का उल्लेख करता हुआ शिष्य कहता है—प्रभो! अविनय होने के इतने कारण हैं—मिथ्या भावना, मन की बुरी प्रवृत्ति, शरीर की बुरी प्रवृत्ति, क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, आसक्ति आदि। इन कारणों में से किसी भी कारण से मैंने आपका अविनय किया हो तो उससे मैं निवृत्त होता हूं। दिन या रात किसी भी क्षण में वर्तमान, भूत या भविष्य में (भविष्य में गुरु के अनिष्ट करने का संकल्प कर लेना) सब प्रकार के मिथ्याचरणों से होने वाली या सब प्रकार के धर्म का अतिक्रमण करने वाली आशातना के द्वारा मैंने जो कोई अतिचार सेवन किया हो तो उससे भी मैं निवृत्त होता हूं और इस प्रकार दृढ़ संकल्प करता हूं कि भविष्य में कोई आशातना नहीं करूंगा। अतीत में मैंने जो कुछ अतिचार सेवन किया, उसकी मैं निन्दा करता हूं, गर्हा करता हूं और आत्मा के सावद्य व्यापार को त्यागता हूं।[१]

---

१. आवश्यक तृतीय अध्ययन।

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

वंदणयं : वन्दनक

मूलपाठ	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
वंदणय-सुत्तं	**वन्दनक-सूत्रम्**	**वन्दनक-सूत्र**
इच्छा (१)	**इच्छा (१)**	**इच्छा (१)**
१. इच्छामि खमासमणो! **वंदिउं, जावणिज्जाए निसीहियाए।**	इच्छामि क्षमाश्रमण! वन्दितुं यमनीयया निषद्यया।	हे क्षमाश्रमण![1] मैं संयत निषद्या से बैठकर वन्दना करना चाहता हूं।
अणुण्णवणा (२)	**अनुज्ञापना (२)**	**अनुज्ञापना (२)**
अणुजाणह मे मिउग्गहं निसीहि अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो।	अनुजानीत मे मितावग्रहं निषद्य अधःकायं कायसंस्पर्शम् क्षमणीयो भवतां क्लमः	मुझे अनुज्ञा दें मितावग्रह में[2] प्रवेश करने की, बैठकर आपके चरणों का शरीर से (हाथों से) स्पर्श करने की। (इस स्पर्श से) आपको कष्ट हुआ हो तो मैं क्षम्य हूं।
अव्वाबाहपुच्छा (३)	**अव्याबाधपृच्छा (३)**	**अव्याबाध पृच्छा (३)**
अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो?	अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसः व्यतिक्रान्तः?	आप कष्टानुभूति से रहित हैं। आपका दिन बहुत शुभ प्रवृत्ति से बीता?
जत्तापुच्छा (४)	**यात्रापृच्छा (४)**	**यात्रा पृच्छा (४)**
जत्ता भे?	यात्रा भवताम्?	आपकी यात्रा[3] प्रशस्त रही?
जवणिज्जपुच्छा (५)	**यमनीयपृच्छा (५)**	**यमनीय पृच्छा (५)**
जवणिज्जं च भे?	यमनीयं च भवताम्।	आपका यमनीय[4] प्रशस्त रहा?
अवराहखमणा (६)	**अपराधक्षामणा(६)**	**अपराध क्षमण (६)**
खामेमि खमासमणो! **देवसियं वइक्कमं।** **आवस्सियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए तित्तीसन्नयराए जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वइदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो**	क्षमयामि क्षमाश्रमण! दैवसिकं व्यतिक्रमम्। आवश्यिक्यां प्रतिक्रामामि क्षमाश्रमणानां दैवसिक्याम् आशातनायां त्रयस्त्रिंशदन्यतरायां यत् किञ्चित् मिथ्यायां मनोदुष्कृतायां वचनदुष्कृतायां कायदुष्कृतायां क्रोधे माने मायायां लोभे सर्वकालिक्यां सर्वमिथ्योपचारायां सर्वधर्मातिक्रमणायाम् आशातनायां यो मया अतिचारः कृतः तस्य क्षमाश्रमण! प्रतिक्रामामि निन्दामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।	हे क्षमाश्रमण! दिवस संबंधी व्यतिक्रम के लिए क्षमा चाहता हूं। अवश्यकरणीय समाचारी के विषय में प्रतिक्रमण करता हूं, क्षमाश्रमणों की दिवस-संबंधी तेतीस में से कोई एक भी आशातना[5] की है, आपके प्रति यत् किञ्चित् मिथ्याभाव आया हो, आपके प्रति मन का दुष्प्रयोग किया हो, वचन का दुष्प्रयोग किया हो, काया की दुष्प्रवृत्ति की हो, क्रोधवश व्यवहार किया हो, मानवश व्यवहार किया हो, मायावश

कओ तस्स खमासमणो!
पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि
अप्पाणं वोसिरामि।

व्यवहार किया हो, लोभवश व्यवहार किया हो, सर्वकाल में होने वाली,[6] सर्वमिथ्या उपचारों से युक्त,[7] सब धर्मों का[8] अतिक्रमण करने वाली, कोई भी आशातना की हो, उसके विषय में जो मैंने अतिचार किया हो, हे क्षमाश्रमण! मैं उसका प्रतिक्रमण करता हूं, निंदा करता हूं, गर्हा करता हूं, आशातना में प्रवृत्त अपने आपका व्युत्सर्ग करता हूं।

टिप्पण

1. क्षमाश्रमण (खमासमणो)

चूर्णिकार ने इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार किया है– जो क्षमा आदि दस यति धर्मों का प्रधानरूप में पालन करता है वह क्षमाश्रमण कहलाता है।[1]

2. मितावग्रह (मिउग्गहं)

चारों दिशाओं में आचार्य के आत्मप्रमाण– शरीरप्रमाण क्षेत्र को अवग्रह कहा जाता है।[2]

3-4. यात्रा (जत्ता), यमनीय (जवणिज्जं)

सोमिल ब्राह्मण वाणिज्यग्राम नगर का निवासी था। वह ऋग्वेद आदि चारों वेद में निपुण था। एक बार श्रमण भगवान महावीर वाणिज्यग्राम में समवसृत हुए। वे नगर के बाहर दूतिपलाश चैत्य में ठहरे। जब सोमिल ब्राह्मण को यह ज्ञात हुआ तब अपनी शंकाओं का निराकरण करने अथवा परीक्षण करने की भावना से वह दूतिपलाश चैत्य की ओर प्रस्थित हुआ। उसने मन ही मन यह निर्णय किया कि यदि श्रमण ज्ञातपुत्र मेरे प्रश्नों का समाधान कर देंगे तो मैं उन्हें वन्दन, नमस्कार करूंगा, अन्यथा नहीं। वह दूतिपलाश चैत्य में आया और श्रमण भगवान् महावीर से अपने प्रश्नों का समाधान चाहा। उसमें दो प्रश्न ये थे–

(१) आपकी यात्रा क्या है?

श्रमण भगवान् ने कहा– सोमिल! तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान, आवश्यक आदि योगों के साथ जो मेरी प्रयत्नशीलता (यतना) है वह मेरी यात्रा हैं।

(२) आपका यमनीय क्या है? कैसा है?

भगवान् ने कहा– सोमिल! यमनीय दो प्रकार का है– इन्द्रिय यमनीय और नो इन्द्रिय यमनीय। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय– ये पांचों इन्द्रियां निरुपहत (परिपूर्ण) होकर भी मेरे वश में रहती हैं, वह इन्द्रिय यमनीय है।

जो मेरे क्रोध, मान, माया और लोभ व्युवच्छिन्न होने से उदीप्त नहीं होते, वह नोइन्द्रिय-यमनीय है।[3]

प्रवचनसारोद्धार में यात्रा और यापना के दो-दो भेद किए हैं। द्रव्य यात्रा है– तापस आदि संन्यासियों तथा मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों का अपनी-अपनी क्रियाओं में लगे रहना द्रव्य यात्रा तथा भावयात्रा है– मुनियों की ज्ञान, दर्शन, चारित्र में संलग्नता। द्रव्य यापना है– शर्करा, द्राक्षा आदि सद् औषधियों से शारीरिक समाधि तथा भावयापना है– इन्द्रिय, नोइन्द्रिय की उपशान्तति से शारीरिक समाधि।[4]

5. तेतीस में से कोई एक भी आशातना (आसाणयाए तित्तीसन्नयराए)

आशातना का एक अर्थ है– प्रतिषिद्ध कार्य में प्रवृत्त होना।[5] समवायांग के वृत्तिकार ने इसका निरुक्तगत अर्थ इस प्रकार किया है– **आयस्य शातना आशातना**– आय का अर्थ है– सम्यग्दर्शन आदि की अवाप्ति और शातना का अर्थ है– खंडन, भंग। जो आय का नाश करती है, वह आशातना है।[6] इसका अर्थ आत्मा को दूषित करना भी हो सकता है।

आशातना विषयक दो परम्पराएं प्रचलित हैं। पहली परम्परा है– समवायांग में उल्लिखित तेतीस आशातनाओं की और दूसरी परम्परा है– आवश्यक सूत्र के चौथे आवश्यक (प्रतिक्रमण) गत आशातनाओं की। प्रस्तुत प्रकरण में समवायांगगत आशातनाएं गृहीत हैं। ये आशातनाएं शैक्ष से संबंधित हैं। **विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– प्रस्तुत ग्रन्थ का चौथा अध्ययन सूत्र ८ का टिप्पण नं. ४३।**

'अन्नयराए' शब्द सप्रयोजन प्रयुक्त है। कोई भी शैक्ष तेतीस

१. आ.चू. (द्वि) पृ. ४६–
खमागहणे य महवादयो सूइता, ततो खमादीयो जदिधम्मो, तप्पहाणो समणो खमासमणो तं।

२. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ४७– एत्थ उग्गहो आयरियस्स आतप्पमाणं खेत्तं।
(ख) आ.हा. वृ. (द्वि) पृ. ३८–
चतुर्दिशमिहाचार्यस्यात्मप्रमाणं क्षेत्रमवग्रहः।

३. भगवती, १८/२०४ से २०९

४. प्रवचनसारोद्धार वृत्ति पत्र २२

५. आ.चू. (द्वि) पृ. ४९– आसातणाए पडिसिद्धकरणं।

६. समवायांग वृत्ति पत्र ५६

आशातनाएं दिन-रात में नहीं करता। उससे एक, दो, चार अशातनाएं हो सकती हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने तेतीस में से किसी भी आशातना करने का निषेध किया है। यही 'अन्नयराए' का प्रयोजन है।[१]

6. सर्वकाल में होने वाली (सव्वकालियाए)

सर्वकाल अर्थात् अतीत आदि से निवृत्त।[२] चूर्णिकार ने सर्वकाल का अर्थ सब काल में होने वाली सर्वकालिक–पाक्षिक, चातुर्मासिक तथा सांवत्सरिक काल किया है।[३]

7. सर्व मिथ्या उपचारों से युक्त (सव्वमिच्छोवयाराए)

मिथ्या भाव अथवा दूषित भावों से प्रेरित होकर किया जाने वाला व्यवहार 'मिथ्योपचार' है। चूर्णिकार ने मायापूर्वक किए जाने वाले विशेष व्यवहार को 'मिथ्योपचार' माना है।[४]

8. सब धर्मों का (सव्वधम्मा)

चूर्णिकार ने धर्म का अर्थ 'करणीय योगप्रवृत्ति' किया है तथा वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'आठ प्रवचन माताएं' किया है।[५]

---

१. आ.चू. (द्वि) पृ. ४८–सव्वाओ न राइंदिए संभवंति तेण अण्णतरग्गहणं, एक्का वा दो वा कता होज्जा।

२. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ३९–सर्वकालेन–अतीतादिना निर्वृत्ता सार्वकालिकी तया।

३. आ.चू. (द्वि.) पृ. ४८–सव्वकाले भवा सव्वकालिगी, पक्खिका चातुम्मासिया संवत्सरिया।

४. आ.चू. (द्वि) पत्र ४८–सव्वेण जेण केण वि पगारेण दूसितभावेण कता।

५. (क) आ.चू. (द्वि) पत्र ४८– धम्मा करणिज्जा जोगा।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ३९– सर्वधर्माः-अष्टौ प्रवचनमातरः।

चउत्थं अज्झयणं : चौथा अध्याय

सामाइयं : सामायिक

आमुख

प्रतिक्रमण–पुनः लौटना। सामायिक की स्वीकृति के बाद ज्ञात-अज्ञात सामान्य स्खलनाओं का निराकरण स्तवना और वन्दना से हो जाता है। विनय कर्म-निर्जरण का महान् हेतु है। जहां गलती स्पष्ट रूप से प्रतिभासित हो, वहां उससे पीछे हटने की बात आती है। अर्हतों द्वारा प्रतिपादित साधना के विधि-विधानों का अतिक्रमण करने वाला व्यक्ति मूल स्थिति में पहुंच जाता है। स्खलित की निन्दा इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।[1]

प्रतिक्रमण का अर्थ

स्वस्थानाद्यत्परं स्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतः।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते।।१।।
क्षायोपशमिकाद्, भावादौदयिकस्य वशं गतः।
तत्रापि हि स एवार्थः, प्रतिकूलगमात् स्मृतः।।२।।
पति पति पवत्तणं वा, सुभेसु जोगेसु मोक्खफलदेसु।
निस्सल्लस्स जतिस्सा जं, तेण तं पडिक्कमणं।।३।।

(आ.चू. (द्वि) पृ. ५२)

- अपने स्थान अर्थात् आत्मभावों से प्रमादवश पर-स्थान (असंयम) में चले जाने पर पुनः आत्मभावों में लौट आना।
- क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव में चले जाने पर पुनः क्षायोपशमिक भाव में लौट आना।
- निःशल्य बन मोक्षदायी शुभयोगों में प्रवृत्त होना।

प्रतिक्रमण तीनों काल से सम्बद्ध है–

१. अतीत का प्रतिक्रमण– निन्दा द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना।

२. वर्तमान का प्रतिक्रमण– संवर द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना।

३. अनागत का प्रतिक्रमण– प्रत्याख्यान द्वारा अशुभ योग से निवृत्त होना।[2]

प्रतिक्रमण के एकार्थक

प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, परिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निंदा, गर्हा, शोधि आदि प्रतिक्रमण के पर्यायवाची शब्द हैं।[3]

प्रतिक्रमण– प्रमाद वश संयम से बाहर चले जाने पर पुनः संयम में लौट आना।

प्रतिचरणा– अकृत्य का परिहार और कृत्य में प्रवृत्त होना।

परिहरणा– अशुभ योगों का परिहरण करना।

वारणा– अपनी आत्मा से अशुभ भावों को दूर करना।

निवृत्ति– अशुभ भाव से निवृत्त होना।

निंदा– आत्म-संताप।

गर्हा– गुरु के समक्ष आलोचना करना।

---

१. अनुयोगद्वार वृत्ति पृ. २५–स्खलितस्य निन्दा प्रतिक्रमणार्थाधिकारः।

२. आ.नि. गा. १२३१
पडिक्कमणं पडिकमओ, पडिकमितव्वं च आणुपुव्वीए।
तीते पच्चुप्पण्णे अणागते चेव कालंमि।।

३. वही, गा. १२३३
पडिक्कमणं पडियरणा, परिहरणा वारणा नियत्ती य।
निंदा गरिहा सोही, पडिकमणं अट्ठधा होति।।

शोधि– दोषों का उच्छेद करना।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा इनके छह-छह भेद होते हैं।

प्रतिक्रमण के प्रकार

प्रतिक्रमण के आठ प्रकार प्राप्त होते हैं[1]–

१. दैवसिक प्रतिक्रमण– दिवस-संबंधित अतिचारों (दोषों) के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

२. रात्रिक प्रतिक्रमण– रात्रि-संबंधित अतिचारों के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

३. इत्वरिक प्रतिक्रमण– उच्चार-प्रस्रवण और श्लेष्म का परिष्ठापन कर किया जाने वाला प्रतिक्रमण तथा जान-अनजान में और सहसा गलती होने पर किया जाने वाला प्रतिक्रमण इत्वरिक प्रतिक्रमण कहलाता है।[2]

४. यावत्कथिक प्रतिक्रमण– पांच महाव्रत, रात्रिभोजनविरति, चातुर्याम, भक्तपरिज्ञा– इनसे संबंधित प्रतिक्रमण यावत्कथिक है।[3]

५. पाक्षिक प्रतिक्रमण– पक्ष (पन्द्रह दिनों) संबंधित अतिचारों के निवृत्ति के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण।[4]

६. चातुर्मासिक प्रतिक्रमण– चार मास में होने वाले अतिचारों के निवृत्ति के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

७. सांवत्सरिक प्रतिक्रमण– वर्ष भर में होने वाले अतिचारों के निवृत्ति के लिए किया जाने वाला प्रतिक्रमण।

८. उत्तमार्थ प्रतिक्रमण– अनशन के समय किया जाने वाला प्रतिक्रमण।[5]

'ठाणं' (५/२२२) में पांच प्रकार के प्रतिक्रमण का उल्लेख है–

१. आश्रवद्वार प्रतिक्रमण– प्राणातिपात आदि आश्रवों से निवृत्त होना।

२. मिथ्यात्व प्रतिक्रमण– मिथ्यात्व से पुनः सम्यक्त्व में लौट आना।

३. कषाय प्रतिक्रमण– कषायों से निवृत्त होना।

४. योग प्रतिक्रमण– मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति से निवृत्त होना।

५. भाव प्रतिक्रमण– मिथ्यात्व आदि में स्वयं प्रवृत्त न होना, दूसरों को प्रवृत्त न करना और प्रवृत्त होने वाले का अनुमोदन न करना।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्यों?

लोग अपने-अपने घरों को प्रतिदिन साफ करते हैं, फिर भी पक्ष, मास आदि में तथा विशेष उत्सवों के अवसर पर घरों की लिपाई-पुताई करते हैं, विशेष रूप से साफ-सुथरा कर उसे सुसज्जित करते हैं। इसी प्रकार मुनि भी प्रतिदिन प्रतिक्रमण करते हैं, परन्तु विशेष शोधन के लिए पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण करते हैं।[6]

प्रतिक्रमण के हेतु

१. प्रतिलेखन और प्रमार्जन कर।

२. भक्तपान का परिष्ठापन कर।

३. उपाश्रय के कूड़े-कर्कट का परिष्ठापन कर।

४. सौ हाथ की दूरी तयकर मुहूर्त्त भर उस स्थान में ठहरने पर।

५. यात्रापथ से निवृत्त होने पर।

६. नदी संतरण करने पर।

७. प्रतिषिद्ध का आचरण करने पर।

---

१. आ.नि. गा. १२४७
पडिक्कमणं देसिय, राइयं च इत्तरियमावकहियं च।
पक्खियचाउम्मासिय, संवच्छर उत्तिमट्ठे य।।

२. वही, गा. १२४९
उच्चारे पासवणे, खेले सिंघाणए पडिक्कमणं।
आभोगमणाभोगे, सहस्सकारे पडिक्कमणं।।

३. वही, गा. १२४८
पंच य महव्वयाइं, राईछट्ठाइ चाउजामो य।
भत्तपरिण्णा य तहा, दुण्हं पि य आवकहियाइं।।

४. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ४९– पाक्षिकं पक्षातिचारनिवृत्तम्।

५. आ.हा.वृ. पृ. ४९
उत्तमार्थे च भक्तप्रत्याख्याने प्रतिक्रमणं भवति।

६. आ.चू. (द्वि), पृ. ६४–जथा लोगे गेहं दिवसे दिवसे पमज्जिज्जंतं पि पक्षादिसु अब्भधितं अवलेवणपमज्जणादीहिं सज्जिज्जति, एवमिहावि ववसोहणविसेसे कीरति त्ति।

८. करणीय (स्वाध्याय आदि) नहीं करने पर।

९. अर्हत् द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर अश्रद्धा होने पर।

१०. विपरीत प्ररूपणा करने पर।[1]

भरत और ऐरवत क्षेत्र के प्रथम एवं चरम तीर्थंकरों के तीर्थ में साधुओं के लिए दोनों समय प्रतिक्रमण करने की अनिवार्यता है, शेष तीर्थंकरों के तीर्थ में प्रतिक्रमण कारण होने पर किया जाता है।[2]

वृत्तिकार ने प्रतिक्रमण कब-कब करे? इसका विवेचन करते हुए इन दस प्रसंगों का उल्लेख किया हैं। इन दस प्रसंगों में ईर्यापथिक सूत्र, कायोत्सर्ग प्रतिज्ञा, चतुर्विंशतिस्तव आदि का स्वाध्याय करने की परम्परा प्रचलित है। पूरा प्रतिक्रमण नहीं।

प्रतिक्रमण के परिणाम

प्रतिक्रमण से जीव व्रत के छेदों को ढ़क देता है। जिसने व्रत के छेदों को भर दिया, वैसा जीव आश्रवों को रोक देता है, चारित्र के धब्बों को मिटा देता है, आठ प्रवचनमाताओं में सावधान हो जाता है तथा संयम में एकरस और सुसमाधिस्थ होकर विहार करता है।[3]

---

१. (क) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५०
पडिलेहेउं पमज्जिय, भत्तं पाणं च वोसिरेऊणं।
वसहीकयवरमेव उ, णियमेण पडिक्कमे साहू।।
हत्थसया आगंतुं, गंतु च मुहुत्तगं जहिं चिट्ठे।
पंथे वा वच्चंतो, णदिसंतरणे पडिक्कमइ।।
(ख) आ.नि., गाथा १२७१
पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे य पडिक्कमणं।
असद्दहणे य तहा, विवरीयपरूवणाए य।।

२. आ. नि. गा. १२४४
सपडिक्कमणो धम्मो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमयाण जिणाणं, कारणजाते पडिक्कमणं।।

३. उत्त. २९/१२– पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ।।

चउत्थं अज्झणयं : चतुर्थ अध्याय
पडिक्कमणं : प्रतिक्रमण

मूलपाठ	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सामाइय-सुत्तं	**सामायिक-सूत्रम्**	**सामायिक सूत्र**
१. करेमि भंते! सामाइयं– सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं– मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।	करोमि भदन्त! सामायिकं–सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि, यावज्जीवं त्रिविधत्रिविधेन– मनसा वचसा कायेन, न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निंदामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।	भन्ते! मैं सामायिक करता हूँ, सर्व सावद्ययोग का प्रत्याख्यान करता हूँ, यावज्जीवन तीन करण तीन योग से– मन से, वचन से, काया से न करूंगा, न करवाऊंगा, न करने वाले अन्य का अनुमोदन करूंगा। भगवन्! अतीत के सावद्य योग का प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे व्युत्सृष्ट करता हूँ।
मंगल-सुत्तं	**मंगल-सूत्रम्**	**मंगल-सूत्र**
२. चत्तारि मंगलं अरहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साहू मंगलं केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं।	चत्वारः मंगलं अर्हन्तो मंगलं सिद्धाः मंगलं साधवः मंगलं केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो मंगलम्।	चार मंगल[1] हैं– अर्हत् मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, साधु मंगल हैं, केवली प्रज्ञप्त धर्म मंगल है।[2]
लोगुत्तम-सुत्तं	**लोकोत्तम-सूत्रम्**	**लोकोत्तम-सूत्र**
चत्तारि लोगुत्तमा अरहंता लोगुत्तमा सिद्धा लोगुत्तमा साहू लोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।	चत्वारः लोकोत्तमाः अर्हन्तो लोकोत्तमाः सिद्धाः लोकोत्तमाः साधवः लोकोत्तमाः केवलिप्रज्ञप्तो धर्मो लोकोत्तमः।	चार लोकोत्तम हैं– अर्हत् लोकोत्तम हैं, सिद्ध लोकोत्तम हैं, साधु लोकोत्तम हैं, केवली प्रज्ञप्त धर्म लोकोत्तम है।[3]
सरण-सुत्तं	**शरण-सूत्रम्**	**शरण-सूत्र**
चत्तारि सरणं पवज्जामि	चतुरः शरणं प्रपद्ये	चार की शरण स्वीकार करता हूं
अरहंते सरणं पवज्जामि	अर्हतः शरणं प्रपद्ये	अर्हन्तों की शरण स्वीकार करता हूं
सिद्धे सरणं पवज्जामि	सिद्धान् शरणं प्रपद्ये	सिद्धों की शरण स्वीकार करता हूं
साहू सरणं पवज्जामि	साधून् शरणं प्रपद्ये	साधुओं की शरण स्वीकार करता हूं
केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।	केवलिप्रज्ञप्तं धर्मं शरणं प्रपद्ये।	केवली प्रज्ञप्त धर्म की शरण स्वीकार करता हूं।

टिप्पण

1. मंगल (मंगलं)

निर्विघ्न रूप से शास्त्र या लौकिक कार्यों की परिसमाप्ति तथा वांछित अभिसिद्धि के लिए जो किया जाता है, वह मंगल है। मंगल दो प्रकार का होता है– द्रव्यमंगल और भावमंगल। लौकिक कार्यों में अक्षत, कुंकुम, दही, नारियल आदि पदार्थ मंगल माने जाते हैं। यह द्रव्य मंगल है। लोकोत्तर कार्यों में अपने इष्ट देवता का स्मरण मंगल है। यह भाव-मंगल हे। मंगल का प्रयोजन है– इष्ट अर्थ की प्राप्ति।

विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– 'भगवई' १/१ का भाष्य।

2. केवली प्रज्ञप्त धर्म मंगल है (केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं)

केवली द्वारा प्ररूपित धर्म मंगल है। इससे कपिल आदि परतीर्थिकों के मत का व्यवच्छेद किया गया है।[1]

3. केवली प्रज्ञप्त धर्म लोकोत्तम है (केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो)

केवली-प्ररूपित धर्म लोक में उत्तम है। धर्म दो प्रकार का है– श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। ये दोनों क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव की दृष्टि से लोक में उत्तम हैं।[2] आचार्य हरिभद्र ने औपशमिक धर्म को भी लोकोत्तम माना है।[3]

पडिक्कमण-सुत्तं	प्रतिक्रमण-सूत्रम्	प्रतिक्रमण-सूत्र
३. इच्छामि पडिक्कमिउं जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए	इच्छामि प्रतिक्रमितुं यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः कायिकः वाचिकः मानसिकः उत्सूत्रः उन्मार्गः अकल्प्यः अकरणीयः दुर्ध्यातः दुर्विचिन्तितः अनाचारः अनेष्टव्यः अश्रमणप्रायोग्यः ज्ञाने दर्शने चारित्रे श्रुते सामायिके	मैं अपने द्वारा किये हुए दैवसिक अतिचार के प्रतिक्रमण की इच्छा करता हूं। मैंने कायिक, वाचिक, मानसिक अतिचार किया हो, उत्सूत्र की प्ररूपणा की हो, उन्मार्ग मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल मार्ग का प्रतिपादन किया हो, अकल्प्य–विधि के विरुद्ध आचरण किया हो, अकरणीय कार्य किया हो, अशुभ ध्यान– आर्त्त-रौद्र किया हो, असद् चिंतन किया हो, अनाचार और अवांछनीय का आचरण किया हो, श्रमण के लिए अयोग्य कार्य का आचरण किया हो, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रुत और सामायिक के विषय में तथा तीन गुप्ति, चार कषाय, पांच महाव्रत, षड्जीव-निकाय, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचन-माता, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति तथा दस प्रकार के श्रमण धर्म में होने वाले श्रमण योगों को जो खण्डित किया हो, जो विराधित किया हो। उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।
तिण्हं गुत्तीणं	तिसृषु गुप्तिषु	
चउण्हं कसायाणं	चतुर्षु कषायेषु	
पंचण्हं महव्वयाणं	पञ्चसु महाव्रतेषु	
छण्हं जीवनिकायाणं	षट्सु जीवनिकायेषु	
सत्तण्हं पिंडेसणाणं	सप्तसु पिण्डैषणासु	
अट्ठण्हं पवयणमाऊणं	अष्टसु प्रवचनमातृषु	
नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं	नवसु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु	
दसविहे समणधम्मे	दशविधे श्रमणधर्मे	
समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।	श्रमणानां योगानां यत् खण्डितं यत् विराधितं, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।	

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५३– केवलिभिः.....मङ्गलम्, अनेन कपिलादिप्रज्ञप्तधर्मव्यवच्छेदमाह।

२. आ.चू (द्वि) पृ. ६९– धम्मो दुविधो– सुतधम्मो चरित्तधम्मो य। एते दोण्णि वि खाइयं खाओवसमियं च भावलोगं पडुच्च उत्तमा।

३. आ.हा. वृ. (द्वि) पृ. ५४– केवलिप्रज्ञप्तो धर्मः– प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स च क्षायोपशमिकौपशमिकक्षायिकभावलोकस्योत्तमः– प्रधानः लोकोत्तमः।

टिप्पण

1. उत्सूत्र (उस्सुत्तो)

उत्सूत्र का अर्थ है– सूत्र के विपरीत प्ररूपणा करना, सूत्र का उल्लंघन करना, सूत्र में अनुक्त तथ्य का प्रतिपादन करना।[1]

2. उन्मार्ग (उम्मग्गो)

उन्मार्ग अर्थात् मोक्षमार्ग से विपरीत मार्ग। इसका तात्पर्य है कि क्षायोपशमिक भाव को छोड़कर तीव्र औदयिक भाव में संक्रमण करना उन्मार्ग में प्रस्थान करना है।[2]

3. अकल्प्य (अकप्पो)

कल्प्य का अर्थ है विधि और आचार। चरण-करण की प्रवृत्ति कल्प्य है। जो कल्प्य नहीं है वह सभी अकल्प्य है।[3]

4. अशुभ ध्यान किया हो (दुज्झाओ)

ध्यान के दो प्रकार हैं– शुभ ध्यान और अशुभ ध्यान अथवा प्रशस्त ध्यान और अप्रशस्त ध्यान। धर्म और शुक्ल– ये दो ध्यान शुभ हैं, प्रशस्त हैं। आर्त्त और रौद्र– ये दो ध्यान अशुभ हैं, अप्रशस्त हैं। **ध्यान के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य सूत्र ८ टिप्पण ११।**

5. श्रमण के लिए अयोग्य (असमणपाउग्गो)

चूर्णि और वृत्ति में श्रमण का अर्थ तपस्वी किया है। श्रमण और तपस्वी पर्यायवाची शब्द हैं।[4]

6. श्रुत (सुए)

विपरीत प्ररूपणा करना, अकाल में स्वाध्याय करना आदि श्रुत के अतिचार हैं।[5]

7. सामायिक (सामाइए)

यहां सामायिक से सम्यक्त्व सामायिक और चारित्र सामायिक को ग्रहण किया गया है। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, परपाषंड प्रशंसा, परपाषण्ड संस्तव आदि सम्यक्त्व सामायिक के अतिचार हैं। 'तिण्हं गुत्तीणं' आदि चारित्र सामायिक के अतिचार हैं।[6]

8. सात पिण्डैषणा (सत्तण्हं पिंडेसणाणं)

पिंड-एषणाएं सात हैं–

१. संसृष्टा– खाद्य वस्तु से लिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

२. असंसृष्टा– भोजन-जात से अलिप्त हाथ या पात्र से देने पर भिक्षा लेना।

३. उद्धृता– अपने प्रयोजन के लिए रांधने के पात्र से दूसरे पात्र से निकला हुआ आहार लेना।

४. अल्पलेपा– अल्पलेप वाली अर्थात् चना, चिउड़ा आदि रूखी वस्तु लेना। यहां अल्प शब्द अभाव वाचक है।

५. अवगृहीता– खाने के लिए थाली में परोसा हुआ आहार लेना।

६. प्रगृहीता– परोसने के लिए कड़छी या चम्मच से निकला हुआ आहार लेना।

७. उज्झितधर्मा– जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य हो, उसे लेना।[7]

9. आठ प्रवचनमाता (अट्ठण्हं पवयणमाऊणं)

पांच समितियों और तीन गुप्तियों को प्रवचन माता कहा गया है, क्योंकि इन आठों में सारा प्रवचन समा जाता है, इन आठों से प्रवचन का प्रसव होता है, इसलिए इन्हें प्रवचन-माता कहा जाता है।[8] पहले में समाने का अर्थ है तथा दूसरे में 'मां' का।

भगवती आराधना के अनुसार समिति और गुप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र की वैसे ही रक्षा करती है जैसे माता अपने पुत्र की।

---

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ६९–
ऊर्ध्वं सूत्रादुत्सूत्रः सुत्तलंघणेण।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५४–
ऊर्ध्वं सूत्रादुत्सूत्रः सूत्रानुक्त इत्यर्थः।

२. आ.चू. (द्वि) पृ. ६९–
मग्गो नाम खओवसमभावो तातो तिव्वउदइयभावसंकमणं एवोम्मग्गो।

३. आ.हा. वृ. (द्वि) पृ. ५४–
कल्पनीयः न्यायः कल्पो विधिः आचारः, कल्प्यः– चरणकरण-व्यापारः, न कल्प्यः– अकल्प्यः।

४. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ६९–
असमणपायोग्गो तवस्सीणं अणुचितो।
(ख) आ.हा. वृ. (द्वि) पृ. ५४–
अश्रमणप्रायोग्यः– तपस्व्यनुचित इत्यर्थः।

५. वही (द्वि) पृ. ५५–
'सुए' त्ति श्रुतविषयः, श्रुतग्रहणं मत्यादिज्ञानोपलक्षणं, तत्र विपरीतप्ररूपणाऽकालस्वाध्यायादिरतिचारः।

६. वही (द्वि) पृ. ५५–
'सामाइए' त्ति सामायिकविषयः सामायिकग्रहणात् सम्यक्त्व-सामायिकचारित्रसामायिकग्रहणं, तत्र सम्यक्त्वसामायिकातिचारः शङ्कादिः। चारित्रसामायिकातिचारं तु भेदेनाह– तिण्हं गुत्तीणमित्यादि।

७. वही, (द्वि.) पृ. ५५–
संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह होइ अप्पलेवा य।
उग्गहिया पग्गहिया, उज्झिय तह होइ सत्तमिया।।

८. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र-५१४– ईर्यासमित्यादयो माता अभिधीयन्ते मातम्– अन्तरवस्थितं खलु निश्चितं प्रवचनं– द्वादशाङ्गं यत्र इति यासु।.....
एया पवयणमाया, दुवालसंगं पसूयातो त्ति।

इसलिए समिति-गुप्ति को माता कहा गया है।[1] **प्रवचनमाता के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य उत्तराध्ययन अध्ययन-२४**

10. नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति (नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं)

ब्रह्मचर्य की रक्षा के नौ उपाय हैं। **विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य सूत्र ८ टिप्पण १९**

11. दस प्रकार के श्रमण धर्म में (दसविधे समणधम्मे)

श्रमण धर्म के क्षान्ति, मुक्ति आदि दस प्रकार हैं। **विस्तृत विवेचन हेतु द्रष्टव्य सूत्र ८ टिप्पण २०।**

12. खण्डित किया हो, विराधित किया हो (खंडियं विराहियं)

यहां दो शब्द प्रयुक्त हैं– खंडित और विराधित। इनमें अर्थ भेद है। खंडित का अर्थ है– व्रत का आंशिक खंडन और विराधित का अर्थ है– बहुतर खंडन। यह शब्द सर्वथा अभाव का द्योतक नहीं है।[2]

13. उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो (तस्स मिच्छा मि दुक्कडं)

आवश्यक निर्युक्तिकार ने इसका शब्दार्थ इस प्रकार किया है–'मि' का अर्थ है–काया की ऋजुता तथा भावों की ऋजुता, 'छा' का अर्थ है–असंयम का स्थगन (रोकना), 'मि' का अर्थ है–मैं चारित्र की मर्यादा में स्थित हूं। 'दु' का अर्थ है–मैं दुष्कृतकारी आत्मा की निन्दा करता हूं। 'क' का अर्थ है–मैंने पाप कर्म किया है। 'डं' का अर्थ है–मैं उसका अतिक्रमण करता हूं, लंघन करता हूं। (मैं काया और भावों की ऋजुता से असंयम को आच्छादित-स्थगित कर, मर्यादा में स्थित हूं। मैंने जो पापानुष्ठान किया है, उसकी निन्दा करता हूं और उपशम के द्वारा अतिक्रमण करता हूं।)[3]

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में मिच्छामि दुक्कडं को प्रतिक्रमण माना है।[4] वे मनुष्य विरले ही होते हैं जो अपने दोष को दोष जान लेते हैं, सरल हृदय से उसे प्रकट कर देते हैं और प्रायश्चित्त स्वरूप 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' के समान सरल और शुद्ध भावना स्वीकार करते हैं। 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना महान् आत्मा का काम है, सरल हृदय का काम है। वस्तुतः यह निजी दोषों के प्रति पश्चात्ताप की भावना से कहना चाहिए। इस पद का मूल हार्द है कि मेरा दुष्कृत (जो प्रमादवश) हुआ है वह मिथ्या हो (निष्फल हो)।

इरियावहिय-सुत्तं

४. इच्छामि पडिक्कमिउं इरिया-वहियाए विराहणाए गमणागमणे पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ओसा-उत्तिंग-पणग-दगमट्टी-मक्कडासंताणा-संकमणे जे मे जीवा विराहिया एगिंदिया बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया अभिहया वत्तिया लेसिया संघाइया संघट्टिया परियाविया किलामिया उद्दविया, ठाणाओ ठाणं संकामिया, जीवियाओ ववरोविया, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

ईर्यापथिक-सूत्रम्

इच्छामि प्रतिक्रमितुं ऐर्यापथिक्या विराधनया गमनागमने प्राणक्रमणे बीजक्रमणे हरितक्रमणे अवश्याय - उत्तिंग - पनक - दगमृत्तिका-मर्कटक-सन्तानक-संक्रमणे ये इमे जीवा विराधिताः एकेन्द्रियाः द्वीन्द्रियाः त्रीन्द्रियाः चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाः अभिहताः वर्तिताः लेशिताः संघातिताः संघट्टिताः परितापिताः क्लामिताः उद्द्रोताः, स्थानात् स्थानं संक्रामिताः जीविताद् व्यपरोपिताः, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

ईर्यापथिक-सूत्र

मैं ईर्यापथ सम्बन्धी विराधना[1] के लिए प्रतिक्रमण करना चाहता हूं– जाने-आने में, प्राणों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) को दबाया हो।[2] बीजों को दबाया हो, हरितकाय को दबाया हो,[3] तथा ओस,[4] कीटिका-नगर[5] (चींटियों के बिलों), फफूंदी, कीचड़[6] और मकड़ी के जालों का संक्रमण करते समय जो ये जीव विराधित हुए हों, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। सामने आते हुए जीवों को हत किया हो, उनकी दिशा बदली हो,[7] उन्हें चोट पहुंचाई हो,[8] उन्हें इकट्ठा किया हो,[9] उन्हें हिलाया-डुलाया हो, उन्हें परितप्त किया हो,[10] उन्हें क्लान्त किया हो,[11] उन्हें उत्त्रासित किया हो,[12] उन्हें स्थानान्तरित किया हो, उन्हें जीवन से रहित किया हो, उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।

---

१. भगवती आराधना, गाथा १२०५
एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदंसणचरित्तं।
रक्खंति सदा मुणिओ, माया पुत्तं व पयदाओ।।

२. आ.हा.वृ. (द्वि.) पृ. ५५–खण्डितं–देशतो भग्नं, यद्विराधितं–सुतरां भग्नं, न पुनरेकान्ततोऽभावमापादितम्।

३. आ. नि. गा. १५०५, १५०६
मित्ति मिउमद्दवत्ते, छत्ति य दोसाण छादणे होइ।
मित्ति य मेराइ ठिओ, दुत्ति दुगुंछामि अप्पाणं।।
कत्ति कडं मे पावं, डत्तिय डेवेमि तं उवसमेणं।
एसो मिच्छाउक्कडपयक्खरत्थो समासेणं।।

४. राजवार्तिक ९/२२/३
मिथ्यादुष्कृताभिधानाद्यभिव्यक्तिप्रतिक्रिया प्रतिक्रमणम्।

टिप्पण

1. ईर्यापथ सम्बन्धी विराधना (इरियावहियाए विराहणाए)

ईर् धातु गति और प्रेरणा अर्थ में है। ईर्या का अर्थ है– गमन और पथ का अर्थ है– मार्ग। जो गमनप्रधान मार्ग है, वह ईर्यापथ है। उसमें होने वाली विराधना को ऐर्यापथिक विराधना कहते हैं।[१]

2. प्राणों को दबाया हो (पाणक्कमणे)

यहां प्राण शब्द से द्वीन्द्रिय आदि त्रस प्राणियों का ग्रहण किया गया है।[२]

3. हरितकाय को दबाया (हरियक्कमणे)

वृत्तिकार के अनुसार यहां हरित के द्वारा सम्पूर्ण वनस्पति का ग्रहण किया है।[३] यह सापेक्ष बात प्रतीत हो रही है, क्योंकि बीज और पनक का अलग से ग्रहण कर लिया गया है।

4. ओस (ओसा)

ओस का अर्थ है– जल विशेष।

ओस का ग्रहण करने से अन्य सचित्त जल के संभोग का निवारण किया गया है।[४]

5. कीटिका-नगर (उत्तिङ्ग)

चूर्णिकार और टीकाकार ने इसके दो अर्थ किए हैं– १. गर्दभ-आकृति के जीव, २. कीटिकानगर।

चूर्णिकार के अनुसार गर्दभ-आकृति के जीव भूमि को खोदकर गड्ढा बना देते हैं।[५]

6. कीचड़ (दगमट्टी)

दक का अर्थ है– पानी और मट्टी का अर्थ है– मिट्टी। दोनों का संयुक्त अर्थ है– कीचड़।

दक और मृत्तिका– इन दो शब्दों को पृथक्-पृथक् ग्रहण किया जाये तो दक के द्वारा अप्काय का और मृत्तिका के द्वारा पृथ्वीकाय का ग्रहण होता है– ऐसा चूर्णिकार और टीकाकार का अभिमत है।[६]

7. उनकी दिशा बदली हो (वत्तिया)

चूर्णिकार एवं टीकाकार ने इसके दो अर्थ किए हैं– एकत्रित करना अथवा धूल या कीचड़ से ढंक देना।[७]

8. उन्हें चोट पहुंचाई हो (लेसिया)

चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ पीस देना अथवा भींत आदि पर लगा देना– चिपका देना किया है।[८] आप्टे में लिश् धातु का अर्थ– पीड़ित करना किया है।[९]

9. उन्हें इकट्ठा किया हो (संघाइया)

इसका अर्थ है– जीवों को एकत्रित करना, जीवों को एक-दूसरे से जोड़ देना।[१०]

10. उन्हें परितप्त किया हो (परियाविया)

इसका अर्थ है– दुःखी करना, चारों ओर से पीड़ा पहुंचाना, संतप्त करना।[११]

11. उन्हें क्लान्त किया हो (किलामिया)

प्राणियों को क्लान्त करना अर्थात् उनको मृत्यु के मुख में ढकेल देना, उनके आयुष्य का समुद्घात कर देना।[१२]

12. उन्हें उत्त्रासित किया हो (उद्दविआ)

चूर्णि और टीका में इसका अर्थ है– उत्त्रास पैदा करना, भयभीत करना।[१३] धातुगत इसका अर्थ है– उपद्रुत करना, पीड़ित करना।

---

१. आ.चू. (द्वि) पृ. ७२–ईर– गतिप्रेरणयो; ईरणं ईर्या गमनमित्यर्थः, एत्तो जाता पथिका, ईरणे पथिका इरियावधिया, काऽसौ? विराधणा, तीए गच्छन्तस्स पथि जा काइ विराधणा सा इरियावहिया।

२. (क) वही (द्वि) पृ. ७२– पाणग्गहणेण बेंदियादी सूयिता।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६–पाणक्कमणे प्राणिनो द्वीन्द्रियादयस्त्रसा गृह्यन्ते।

३. वही, (द्वि) पृ. ५६– हरिताक्रमणे, अनेन तु सकलवनस्पतेरेव।

४. वही, (द्वि) पृ. ५६–तत्रावश्यायः– जलविशेषः, इह चावश्याय-ग्रहणमतिशयतः, शेषजलसम्भोगपरिवारणार्थमिति।

५. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२–उत्तिंगा नाम गद्दभगाकिती जीवा भूमीए खड्डयं करेंति, कीडियानगरं वा।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६–उत्तिङ्गा– गर्दभाकृतयो जीवाः कीटिकानगराणि वा।

६. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२–दगमट्टिया चिक्खल्लादि, अहवा दगं आउक्कायो, मट्टिया पुढविकाओ।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६–दगमृत्तिका– चिक्खल्लम्, अथवा दकग्रहणादप्कायः, मृत्तिकाग्रहणात् पृथ्वीकायः।

७. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२–वत्तिया नाम पुंजीकता, अहवा धूलीए चिक्खल्लेण वा ओहाडिता।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६–वर्तिताः– पुञ्जीकृताः, धूल्या वा स्थगिता इति।

८. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२–लिसिता पिट्ठा अहवा भूमीए कुड्डादिसु वा लाइया।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५९–
श्लेषिताः-पिष्टाः, भूम्यादिषु वा लगिताः।

९. Apte's Sanskrit English Dictionary-लिश्–To Hurt.

१०. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२–संघातिता– गत्ताणि परोप्परं लाइताणि।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६–सङ्घातिता–अन्योऽन्यं गात्रैरेकत्र लगिताः।

११. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२– परितावित– दुक्खाविता।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६– परितापिताः– समन्ततः पीडिताः।

१२. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२– किलामिता– किंचिज्जीवितसेसा कया अहवा समुग्घातं नीता।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६– क्लामिताः-समुद्घातं नीताः ग्लानिमापादिता इत्यर्थः।

१३. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७२– उद्दविता उवद्दविता उत्रासिता वा।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६– अवद्राविता– उत्त्रासिताः।।

सेज्जा-अइयार-पडिक्कमण-सुत्तं

५. इच्छामि पडिक्कमिउं पगामसेज्जाए निगामसेज्जाए उव्वट्टणाए परिवट्टणाए आउंटणाए पसारणाए छप्पइयसंघट्टणाए कूइए कक्कराइए छीए जंभाइए आमोसे, ससरक्खामोसे, आउलमाउलाए सोयणवत्तियाए, इत्थीविप्परियासिआए दिट्ठिविप्परियासिआए मणविप्परियासिआए पाणभोयणविप्परियासिआए, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

शय्या-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्रम्

इच्छामि प्रतिक्रमितुं प्रकामशय्यायां निकामशय्यायाम् उद्वर्तनायां परिवर्तनायाम् आकुंचनायां प्रसारणायां षट्पदिकासंघट्टनायां कूजिते 'कक्कराइए' क्षुते जृम्भिते आमर्शे सरजस्कामर्शे आकुलाकुलायां स्वप्नप्रात्ययिक्यां स्त्रीवैपर्यासिक्यां दृष्टिवैपर्यासिक्यां मनोवैपर्यासिक्यां पानभोजनवैपर्यासिक्यां, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

शय्या-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्र

मैं प्रतिक्रमण करने की इच्छा करता हूं। अतिमात्र नींद लेने में, जब इच्छा हुई तब नींद लेने में या बार-बार नींद लेने में,[1] करवट बदलने में, एक ही करवट में हलन-चलन करने में शरीर को सिकोड़ने-फैलाने में,[2] जूं को इधर-उधर करने में, नींद में बोलने और दांत पीसने में,[3] छींक और जम्हाई लेने में, किसी का स्पर्श करने में, सचित्त रजयुक्त वस्तु का स्पर्श करने में अतिचार किया हो, स्वप्न हेतुक आकुल-व्याकुलता,[4] स्त्री विपर्यास[5], दृष्टि विपर्यास[6], मनःविपर्यास, पान भोजन विपर्यास[7] किया हो तो उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।

टिप्पण

1. अतिमात्र नींद.....बार-बार नींद लेने में (पगामसेज्जाए निगामसेज्जाए)

चूर्णिकार और टीकाकार ने प्रकाम शय्या के दो अर्थ किये हैं–

१. रात्रि के चार प्रहर तक सोना, सारी रात सोना।

२. शय्या पर अधिक वस्त्रों को बिछाकर सोना।

अधिक वस्त्र वाली शय्या पर सोने से वस्त्र-मर्यादा का उल्लंघन होता है तथा बहुत ज्यादा सोने से स्वाध्याय आदि में बाधा आती है।

दिन में अत्यधिक सोना अथवा अधिक वस्त्रों को बिछाकर सोना निकामशय्या है। निकामशय्या का अर्थ बार-बार सोना भी होता है।[1]

जिनदासगणि महत्तर ने निकामशायी और प्रकामशायी को पर्यायवाची माना है।[2]

अगस्त्यसिंह के अनुसार कोमल बिस्तर बिछाकर सोने की इच्छा रखने वाला निकामशायी है।[3]

2. शरीर को सिकोड़ने-फैलाने में (आउंटणाए पसारणाए)

जैसे कुक्कुटी अपने पैरों को आकाश में फैलाती है और पुनः उनको संकुचित कर लेती है, वैसे ही मुनि भी अपने पैरों को भूमि को छुए बिना आकाश में ऊपर उठाए और फिर संकुचित कर एडी टिके उतने प्रमाण में भूमि का प्रमार्जन कर पैर नीचे रखें। यदि इस विधि का अतिक्रमण होता है तो वह अतिचार है। साधु श्रान्त होने पर कुक्कुट विधि से पैरो को फैलाकर शीघ्र ही संकुचित कर ले।[4]

3. दांत पीसने में (कक्कराइए)

शय्या के विषय में दोषोद्भावन करना 'कर्करायित' है। शय्या के विषय में यह कहना कि यह शय्या का स्थान विषम है, गर्मी वाला है, दुर्गंध युक्त है आदि-आदि। इसमें आर्त्तध्यान होने की

---

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७३– पगामसेज्जा सव्वरत्तिं सुव्वति, पगामत्थरणं जं संथारुत्तरपट्टगातिरित्तं अत्थरति, पगामं पाउणति, गद्दभदिट्ठंतमकातूणं परेणं तिण्ह पाउणति त्ति। एताणि चेव पदाणि दिणे दिणे जदि करेति तो निगामसेज्जा, दिवे दिवे सव्वरत्तिं सुवति, दिवे दिवे तथा पत्थरेति पाउणति।

(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६– शयनं शय्या– प्रकामं चातुर्यामं शयनं प्रकामशय्या, शेरतेऽस्यामिति वा शय्या– संस्तारकादिलक्षणा, प्रकामा– उत्कटा शय्या प्रकामशय्या– संस्तारोत्तरपट्टकातिरिक्ता प्रावरणमधिकृत्य कल्पत्रयातिरिक्ता वा तया हेतुभूततया, स्वाध्यायाद्यकरणतश्चेहातिचारः। प्रतिदिवसं प्रकामशय्यैव निकामशय्योच्यते।

२. दश.जि.चू. पृ. १६४–निगामं नाम पगामं भण्णइ निगामं सुयतीति निगामसायी।

३. दश. अ. चू. पृ. ९६–निकामसाइस्स सुपच्छण्णे मऊए सुइत्तुं सीलमस्स निकामसाती।

४. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६– प्रसारणम्– अङ्गानां विक्षेपः तदेव प्रसारणा तया, अत्र च कुक्कुट्टिदृष्टान्तप्रतिपादितं विधिमकुर्वतोऽतिचारः, तथा चोक्तम्–

कुक्कुडिपायपसारे, जह आगासे पुणो वि आउंटे।
एवं पसारिऊणं, आगासि पुणो वि आउंटे।।१।।
अइकुंडिय सिय ताहे जहियं पायस्स पण्हिया ठाइ।
तहियं पमज्जिऊणं आगासेणं तु णेऊणं।।२।।
पायं ठवित्तु तहिं, आगासे चेव पुणो वि आउंटे।
एवं विहिमकरेंते, अइयारो तत्थ से होइ।।३।।

संभावना रहती है। यह अतिचार है।[१]

चूर्णि में इसका दूसरा अर्थ कर्कश बोलना किया है।[२] इसका अर्थ नींद में 'दांत पीसना' भी किया जाता है।

'पगामसेज्जाए' से 'ससरक्खामोसे' तक की तेरह क्रियाएं शयन कालीन जाग्रत अवस्था में होने वाली हैं– ऐसा चूर्णि और टीका का अभिमत है।[३] इनके अतिचार भी भिन्न-भिन्न हैं।

इन क्रियाओं के अतिचार ये हैं–

- प्रकामशय्या, निकामशय्या – स्वाध्याय न कर पाना।
- उद्वर्तन, परिवर्तन – बिना प्रमार्जन किए करवट बदलना।
- आकुञ्चन, प्रसारण – विधियुक्त न करना।
- षट्पदिसंघट्टन – अविधि से स्पर्श करना।
- कूजित – मुख पर हाथ या वस्त्र न रखना।
- कर्कराियत – आर्त्तध्यान।
- छींक, जंभाई – अविधि से करना।
- आमर्ष, रजस्कामर्ष – बिना प्रमार्जन किए स्पर्श करना।

चूर्णिकार और टीकाकार ने इन क्रियाओं को जागृत अवस्था में माना है। किन्तु यह सूत्र शय्या-अतिचार सूत्र होने के कारण तथा प्रारंभिक क्रिया प्रकामशय्या से यह स्पष्ट होता है कि यह क्रियाएं सुप्तावस्था में हो तो उसका प्रायश्चित्त किया जा रहा है।

4. स्वप्न हेतुक आकुल-व्याकुलता (आउलमाउलाए सोयण-वत्तियाए)

चूर्णिकार ने आकुल-व्याकुला के दो अर्थ किये हैं–

१. निद्रा और प्रमाद के वशीभूत होकर स्वप्न में मूलगुण और उत्तरगुण की उपरोध क्रिया (विनाशक क्रिया) करना आकुल-व्याकुला है।

२. स्वप्न में अनेक प्रकार के विवाह-संगम, युद्ध आदि देखना और उनका आचरण करना आकुलता है। स्वप्न में उनको बार-बार देखना आकुल व्याकुला है।[४]

5. स्त्री विपर्यास (इत्थीविप्परियासिआए)

चूर्णि में स्त्री विपर्यास का अर्थ है– स्त्री से अब्रह्मचर्य। स्वप्न में स्त्री से अब्रह्मचर्य का सेवन करना स्त्रीविपर्यास है।[५]

6. दृष्टि विपर्यास (दिट्ठिविप्परियासिआए)

स्वप्न में स्त्री को देखकर मन में अनुराग उत्पन्न होना और उस अनुराग से स्त्री को देखना दृष्टिविपर्यास है।[६] दृष्टिविपर्यास वाला व्यक्ति रूप में भ्रमित हो जाता है।[७]

7. पान-भोजन विपर्यास (पाणभोयणविप्परियासिआए)

स्वप्न में पान, भोजन करना पानभोजन विपर्यास है।[८] वृत्तिकार के अनुसार रात्रि में पान, भोजन करना पानभोजन विपर्यास है।[९]

गोयर-अइयार-पडिक्कमण-सुत्तं	गोचर-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्रम्	गोचर-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्र
६. पडिक्कमामि गोयरचरिआए भिक्खायरिआए उग्घाडकवाड-उग्घाडणाए साणा-वच्छा-दारासंघट्टणाए मंडी-पाहुडियाए बलि-पाहुडियाए ठवणा-पाहुडियाए संकिए सहसागारे अणेसणाए पाणभोयणाए बीयभोयणाए हरियभोयणाए पच्छाकम्मियाए पुरेकम्मियाए अदिट्ठहडाए दग-	प्रतिक्रामामि गोचरचर्यायां भिक्षाचर्यायां 'उग्घाड-कपाट-उग्घाडणाए' श्वक-वत्सक-दारक-संघट्टनायां मण्डीप्राभृतिक्यां बलिप्राभृतिक्यां स्थापनाप्राभृतिक्यां शंकिते सहसाकारे अनैषणायां प्राणभोजने बीजभोजने हरितभोजने पश्चात्कार्मिक्यां पुरःकार्मिक्यां अदृष्टाहृते दकसंसृष्टाहृते रजःसंसृष्टाहृते पारिशाटनिक्यां पारिस्थापनिक्यां अवभाषणभिक्षायां यत् उद्गमेन	मैं गोचरचर्या– गाय की भांति अनेक स्थानों से थोड़ा-थोड़ा लेने वाली भिक्षाचर्या[1] (से संबंधित अतिचारों) का प्रतिक्रमण करता हूं– कुछ बंद[2] (बिना अर्गला लगा बंद दरवाजा) खोला हो, कुत्ते, बछड़े और बच्चे को इधर-उधर किया हो, पकाये हुए भोजन में से निकाले गए प्रथम ग्रास की भिक्षा ली हो, देवपूजा के लिए तैयार किया हुआ भोजन लिया हो, स्थापित किया हुआ

१. आ.हा.वृ (द्वि) पृ. ५६– विषमा धर्मवतीत्यादिशय्यादोषोच्चारणं सकर्कारायितमुच्यते तस्मिन् सति योऽतिचारः, इह चाऽऽर्तध्यानजोऽतिचारः।

२. आ.चू. (द्वि) पृ. ७३– कक्कसं रसितं कक्करातितं।

३. (क) वही, (द्वि) पृ. ७३– पगामसेज्जा.....एते ताव जागरस्स अतियारा।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५६– शय्या प्रकामं...जाग्रतोऽतिचार-सम्भवमधिकृत्योक्तम्।

४. आ.चू (द्वि) पृ. ७३–आउलमाउलताए सोवणंतिए निद्दप्पमादाभिन्नभूदस्स मूलगुणाणं उत्तरगुणाणं वा उवरोधकिरिया जा णाणाविधा सोवणंतिया सो आउलमाउला, अहवा आउलं नाणाविहं रूवं विवाहसंगमादिसु दिट्ठं आयरितं वा, पुणोवि आउलं तारिसा बहवो वारा दिट्ठा एसा आउलंआउला।

५. वही, पृ. ७३– इत्थीविप्परियासियाए इत्थिए विप्परियासो इत्थीविप्परियासो, स्वप्ने स्त्रिया ब्रह्मचर्यविनाश इत्यर्थः, विपर्यासो नाम अबंभचेरं।

६. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५७– स्त्रीदर्शनानुरागतस्तदवलोकनं दृष्टि-विपर्यासः, तस्मिन् भवा दृष्टिवैपर्यासिकी।

७. आ.चू. (द्वि) पृ. ७३– दिट्ठिविप्परियासो रूवं द्रष्टुं भ्रमति।

८. वही, पृ. ७४– एवं पाणभोयणं सुविणे कतं सो विपर्यासः।

९. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५७– पानभोजनवैपर्यासिक्या– रात्रौ पान-भोजनपरिभोग एव तद्विपर्यासः।

संसट्ठहडाए रय-संसट्ठहडाए परिसाडणियाए पारिट्ठावणियाए ओहासणभिक्खाए जं उग्गमेणं उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं पडिग्गहियं परिभुत्तं वा जं न परिट्ठवियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

उत्पादनैषणाभ्याम् अपरिशुद्धं प्रतिगृहीतं परिभुक्तं वा यन्न परिष्ठापितं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

भोजन लिया हो,[3] शंका-सहित आहार लिया हो, बिना सोचे शीघ्रता में आहार लिया हो,[4] एषणा– पूछताछ किए बिना आहार लिया हो, प्राण से युक्त, बीज से युक्त और हरित से युक्त आहार लिया हो, पश्चात् कर्म और पुरःकर्म युक्त भिक्षा ली हो, अनदेखे लाई हुई वस्तु ली हो, सचित्त जल से स्पृष्ट लाई हुई वस्तु ली हो, सचित्त रजों से स्पृष्ट लाई हुई वस्तु ली हो, भूमि पर गिराते-गिराते दी जाने वाली वस्तु ली हो, परिष्ठापन योग्य वस्तु ली हो, विशिष्ट द्रव्य को मांगकर लिया हो,[5] उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष के द्वारा अपरिशुद्ध[6] आहार ग्रहण किया हो, परिभोग किया हो, उसका परिष्ठापन न किया हो, उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।

टिप्पण

1. गोचरचर्या भिक्षाचर्या (गोयरचरिआए भिक्खायरिआए)

गोचर शब्द का अर्थ है भ्रमण अथवा गाय की तरह चरना–भिक्षाटन करना। जिस प्रकार गाय शब्द आदि विषयों में गृद्ध नहीं होती हुई आहार ग्रहण करती है उसी प्रकार साधु भी आसक्त न होते हुए सामुदायिक रूप से उद्गम, उत्पाद और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा के लिए भ्रमण करते हैं।[1] चूर्णिकार ने इस विषय में एक दृष्टान्त दिया है– एक बछड़ा था। एक बार गृहस्वामिनी उसे घास, पानी देना भूल गई। वह भूखा, प्यासा रहा। गृहस्वामिनी को जब बछड़े की याद आई तब वह उसे घास, पानी देने आई। उस समय वह सुसज्जित थी। किन्तु बछड़े ने उसकी ओर ध्यान न देकर केवल घास, पानी आदि में ही ध्यान दिया। इसी प्रकार साधु भिक्षा करते समय लाभ, अलाभ, सुख, दुःख में सम रहता हुआ अच्छे या बुरे भोजन में तथा पांच प्रकार के इन्द्रिय-विषयों में अनासक्त रहता हुआ भिक्षा के लिए भ्रमण करे।[2]

दशवैकालिक सूत्र में साधु की भिक्षावृत्ति को माधुकरी वृत्ति भी कहा है। भिक्षाचर्या के **विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक अध्ययन १ का आमुख।**

2. कुछ बंद (उग्घाड)

'उग्घाड' देशीशब्द है। इसका अर्थ है– ऐसा बंद कपाट जिसमें अर्गला न हो अथवा जो थोड़ा बंद हो।[3] राजस्थान भाषा में इसे 'ओढाल्योडो' कहा जाता है। साधु पिण्डैषणा के लिए नाना घरों में जाता है। दशवैकालिक ५।१।१२ में साधु के लिए बताया गया है कि साधु किवाड़ न खोले। किवाड़ न खोलने के दो मुख्य कारण हैं।

१. शंका उत्पन्न होना।

२. अप्रमार्जन के कारण हिंसा की संभावना।

3. स्थापित किया हुआ भोजन लिया हो (ठवणा पाहुडियाए)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है–भिक्षाचर आदि आएंगे उनके लिए स्थापित किया भोजन अथवा साधुओं के लिए स्थापित किया भोजन लेना।[4]

---

१. दश. जि. चू. पृ. १६७,१६८–गोचरो नाम भ्रमणं.....जहा गावीओ सद्दादिसु विसएसु असज्जमाणीओ आहारमाहारेंति,...एवं साधुणा वि विसएसु असज्जमाणेण समुदाणे उग्गमउप्पायणासुद्धे निवेसियबुद्धिणा अरत्तदुट्ठेण भिक्खा हिंडियव्व त्ति।

२. आ.चू. (द्वि) पृ. ७४– लाभालाभे सुहदुक्खे सोभणासोभणे भत्ते वा पाणे वा सुसमणो तुण्हिक्को चरति, जहा वा सो वच्छओ दिवसं तिसाए छुहाए य परितावितो तीए अविरतियाए पंचविहविसय-संपउत्ताए तणपाणिए दिज्जमाणे तंमि इत्थियंमि न मुच्छं गच्छति, न वा तेसु चित्तं देति, किं तु चारिं पाणियं च एगग्गमाणसो आलोएति, एवं साधू वि पंचविहेसु विसएसु असज्जंतो भिक्खायरियाए उवउत्तो चरति तेण गोचरचरिया, तीए गोचरचरियाए या भिक्खायरिया भिक्खेसणा।

३. (क) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५७– उग्घाड.....उद्घाटम्–अदत्तार्गलमीषत् स्थगितं वा।
(ख) आ.चू. (द्वि) पृ. ७४–उग्घाडं नाम किंचि थगितं।

४. वही, पृ. ७४–ठवणा पाहुडिया नाम भिक्खायरा आगमिस्संति अहवा साधूण चेव अट्ठाए ठविता।

4. बिना सोचे शीघ्रता में आहार लिया हो (सहसागारे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है–बिना गवेषणा के जल्दबाजी में ग्रहण करना।[1] वृत्तिकार के अनुसार अकल्पनीय ग्रहण करना सहसाकार है।[2]

5. विशिष्ट द्रव्य को मांगकर लिया हो (ओहासण भिक्खाए)

ओहासण का अर्थ है– विशिष्ट द्रव्य की याचना करना।[3]

6. उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष के द्वारा अपरिशुद्ध (उग्गमेणं उप्पायणेसणाए अपरिसुद्धं)

उद्गमदोष– आहार की उत्पत्ति से जो दोष होते हैं, उन्हें उद्गम दोष कहा जाता है। ये दोष गृहस्थ से संबंधित हैं। ये सोलह प्रकार के हैं–

आहाकम्मुद्देसिय पूतीकम्मे य मीसजाते य।
ठवणा पाहुडियाए पाओयर कीत पामिच्चे।।
परियट्टिए अभिहडे उब्भिन्ने मालोहडे त्ति य।
अच्छिज्जे अणिसिट्ठे अज्झोयरए य सोलसमे।।[4]

१. आधाकर्म–मन से साधु के निमित्त पचन-पाचन आदि का संकल्प कर आहार आदि निष्पन्न करना।[5]

२. औद्देशिक–औद्देशिक के दो अर्थ हैं–

१. निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से आरम्भ-समारम्भ कर बनाया गया आहार आदि।[6]

२. परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, वस्तु अथवा मकान आदि।[7]

३. पूतिकर्म–जो आहार आदि श्रमण के लिए बनाया जाए, वह आधाकर्म कहलाता है। उस आधाकर्म से मिश्रित जो आहार आदि होते हैं, वे पूतिकर्म युक्त कहलाते हैं।[8]

४. मिश्रजात–गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए, उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका ले, वह 'मिश्रजात' दोष है। उसके तीन प्रकार हैं–

१. यावदर्थिक मिश्र–भिक्षाचर और कुटुम्ब के लिए एक साथ पकाया जानेवाला भोजन 'यावदर्थिक' कहलाता है।

२. पाखण्ड मिश्र–पाखण्डी और अपने लिए एक साथ पकाया जाने वाला भोजन 'पाखण्ड मिश्र' कहलाता है।

३. साधु मिश्र–जो भोजन केवल साधु और अपने लिए एक साथ पकाया जाए, वह 'साधु मिश्र' कहलाता है।[9]

५. स्थापित–यह वस्तु अमुक साधु के लिए है–इस बुद्धि से देय वस्तु को कुछ समय के लिए स्थापित करना स्थापना दोष है।[10]

६. प्राभृतिक–साधु को देने के लिए मेहमानों को पहले या पीछे निमंत्रित करना। पिण्डनिर्युक्ति के अनुसार साधु को उपहार स्वरूप विशिष्ट वस्तु देना प्राभृतिक दोष है।[11]

७. प्रादुष्कर–प्रादुष्करण के दो प्रकार हैं–

१. प्रकटकरण–देय वस्तु को अन्धकार से हटाकर प्रकाशित स्थान में रखना।

२. प्रकाशकरण–अंधकार युक्त स्थान को प्रकाशित करने के लिए दीवार में छिद्र करना अथवा दीपक, अग्नि आदि से उसे प्रकाशित करना।[12]

८. क्रीत–साधु के निमित्त कोई वस्तु खरीदना।[13]

९. प्रामित्य–साधु को देने के लिए कोई वस्तु दूसरों से उधार लेना।[14]

१०. परिवर्त्त–साधु के निमित्त किसी वस्तु का विनिमय करना।[15]

११. अभिहृत–साधु के निमित्त तीन मकानों से अधिक दूरी से कोई वस्तु लाकर देना। पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति के अनुसार दूर से अथवा दूसरे ग्राम से लाकर देना अभिहृत दोष है।[16]

---

१. आ.चू. (द्वि), पृ. ७४– अणेसणा पबुद्धा, सहक्कारेण गहिता।
२. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५७–सहसाकारे वा सत्यकल्पनीये गृहीत इति।
३. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५७– 'ओहासणभिक्खाए' त्ति विशिष्टद्रव्य-याचनं समयपरिभाषया 'ओहासणं' ति भण्णइ।
४. पिण्डनिर्युक्ति गा. ५८,५९
५. वही, गा. ६२
ओरालसरीराणं, उद्दवण तिवायणं च जस्सट्ठा।
मणमाहित्ता कुव्वति, आहाकम्मं तयं बेंति।।
६. दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति प. ११६–उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशः।
७. पिण्डनिर्युक्ति, वृ. पृ. ३५
८. वही, गा. ११९
समणकडाहाकम्मं, समणाणं जं कडेण मीसं तु।
आहार-उवधि-वसही, सव्वं तं पूइयं होति।।
९. वही, गा. १२०,१२२
मीसज्जातं जावंतिगं च पासंडि साहुमीसं च।
सहसंतरं न कप्पति, कप्पति कप्पे कते तिगुणे।।
अतट्ठा रंधंतो, पासंडीणं पि बितियओ छुभति।
निग्गंथट्ठा ततिओ, अत्तट्ठाए वि रंधंते।।
१०. पिण्डनिर्युक्ति वृ. पृ. ३५– साधुभ्यो देयमिति बुद्ध्या देयवस्तुनः कियन्तं कालं व्यवस्थापनं स्थापना।
११. वही, पृ. ३५– कस्मैचिदिष्टाय पूज्याय वा बहुमानपुरस्सरीकारेण यदभीष्टं वस्तु दीयते तत्प्राभृतमुच्यते।
१२. पिण्डनिर्युक्ति गा. १३७
पाओकरणं दुविधं, पागडकरणं पगासकरणं च।
पागड संकामण कुड्डुदारपाए य छिन्नेणं।।
१३. पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति पृ. ३५–क्रीतं यत्साध्वर्थं मूल्येन परिगृहीतम्।
१४. दशवैकालिक हारिभद्रीया, वृ. प. १७४–प्रामित्यं-साध्वर्थ-मुच्छिद्य दानलक्षणम्।
१५. पिण्डनिर्युक्ति वृ. पृ. ३५–यत्साधुनिमित्तं कृतपरावर्त्तम्।
१६. वही, पृ. ३५–स्वग्रामात्परग्रामाद्वा समानीतम्।

१२. उद्भिन्न–उद्भिन्न–दोष के दो प्रकार हैं–

१. पिहित उद्भिन्न–चमड़े आदि से बंद पात्र का मुंह खोल भिक्षा देना।

२. कपाट उद्भिन्न–बंद किंवाड़ को खोलकर भिक्षा देना।[1]

उद्भिन्न दोष के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।४५,५६ का टिप्पण

१३. मालापहृत–निसैनी आदि के द्वारा मचान, स्तम्भ या प्रासाद पर चढ़कर लाई गई कोई वस्तु देना। **मालापहृत दोष के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।६७,६८ का टिप्पण।**

१४. आच्छेद्य–किसी दुर्बल व्यक्ति से बलात् छीनकर कोई वस्तु देना। पिण्डनिर्युक्तिकार ने इसके तीन प्रकार किए हैं–

१. प्रभु विषयक २. स्वामी विषयक ३. स्तेनविषयक।[2]

१५. अनिसृष्ट–देय वस्तु के जितने स्वामी हों, उन सबकी अनुमति लिए बिना वह वस्तु साधु को देना।

पिण्डनिर्युक्ति में इसके अनेक भेद किए हैं–लड्डु विषयक, भोजन विषयक, कोल्हू विषयक, विवाह-भोज विषयक, दूध विषयक तथा आपण विषयक।

अनिसृष्ट दोष के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।३७ का टिप्पण।

अध्यवतर–अपने लिए पक रहे भोजन में साधु के निमित्त अधिक डालकर पकाना अध्यवतर दोष है। इसके तीन प्रकार हैं–

१. स्वगृहयावदर्थिक मिश्र

२. स्वगृह साधु मिश्र

३. स्वगृह पाखंडी मिश्र।[3]

उत्पादन दोष– आहार की प्राप्ति में जो दोष होते हैं, उन्हें उत्पादन दोष कहा जाता है। ये दोष साधु से संबंधित हैं। ये सोलह प्रकार के हैं–

धाई दूती निमित्ते, आजीव वणीमगे तिगिच्छा य।
कोधे माणे माया, लोभे य हवंति दस एते।।
पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते य चुन्न जोगे य।
उप्पायणाय दोसा, सोलसमे मूलकम्मे य।।[4]

१. धात्री– धाय की तरह बालक को खिलाकर भिक्षा लेना।

२. दूती– दूती की तरह संवाद बताकर भिक्षा लेना।

३. निमित्त– भावी शुभ-अशुभ बताकर भिक्षा लेना।

४. आजीव– अपनी जाति, कुल आदि का परिचय देकर भिक्षा लेना।

५. वनीपक– भिखारी की तरह दीनता दिखाकर भिक्षा लेना।

६. चिकित्सा– वैद्य की तरह चिकित्सा कर भिक्षा लेना।

७. क्रोध– क्रोध का प्रदर्शन कर भिक्षा लेना।

८. मान– मान का प्रदर्शन कर भिक्षा लेना।

९. माया– माया का प्रदर्शन कर भिक्षा लेना।

१०. लोभ– लोभ का प्रदर्शन कर भिक्षा लेना।

११. संस्तव– दाता की प्रशंसा कर भिक्षा लेना।

१२. विद्या– विद्या (देवी अधिष्ठित) का प्रयोग कर भिक्षा लेना।

१३. मन्त्र– मन्त्र (देव अधिष्ठित) का प्रयोग कर भिक्षा लेना।

१४. चूर्ण– अंजन, चूर्ण आदि का प्रयोग कर भिक्षा लेना।

१५. योग– आकाशगमन आदि के साधक द्रव्यों के मिश्रण का प्रयोग कर भिक्षा लेना।

१६. गर्भपात– गर्भपात आदि के उपाय बताकर भिक्षा लेना।

एषणा दोष– आहार ग्रहण करते समय एषणा के सम्बन्ध में होने वाले दोषों को एषणा या ग्रहणैषणा के दोष कहा जाता है। इनका संबंध साधु और गृहस्थ दोनों से हैं। ये दस प्रकार के हैं–

संकित मक्खित निक्खित्त पिहित साहरिय दायगुम्मीसे।
अपरिणत लित्त छड्डिय, एसणदोसा दस हवंति।।[5]

१. शंकित– आधाकर्म आदि दोषों की संभावना से भिक्षा लेना। **शंकित दोष के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।४ का टिप्पण।**

२. प्रक्षित– सचित्त रजों से युक्त हाथ आदि से भिक्षा लेना। **प्रक्षित दोष के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।३३-३५ का टिप्पण।**

३. निक्षिप्त– सचित्त पदार्थ पर स्थापित देय वस्तु का ग्रहण। **निक्षिप्त दोष के विस्तृत के विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।५९ का टिप्पण।**

४. पिहित– सचित्त पदार्थ से ढंकी हुई देय वस्तु का ग्रहण। **पिहित के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य पिण्डनिर्युक्ति ५५८, ५६२।**

५. संहृत– देय वस्तु जिस पात्र में है, उससे सचित्त बाहर निकालकर भिक्षा देना। **संहृत दोष के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।३०,३१ के टिप्पण।**

६. दायक– अंधे, पंगु आदि अविधि से देने वाले के हाथ से भिक्षा लेना। **दायक दोष के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ५।१।२९, ३९,४०,४२ का टिप्पण।** पिण्डनिर्युक्ति में अपात्रदायक के चालीस भेद बताए गए हैं। बालक, वृद्ध, मत्त, उन्मत्त, कम्पमान शरीर आदि, आदि।[6]

---

१. पिण्डनिर्युक्ति गा. १६२
पिहितुब्भिन्नकवाडे, फासुग अप्फासुगे य बोधव्वे।

२. वही, गा. १७२
अच्छेज्जं पि य तिविधं, पभू य सामी य तेणए चेव।।

३. वही, गा. १८६

४. वही, गा. १९५,१९६

५. वही, गा. २३७

६. वही, गा. २६५,२७०

७. **उन्मिश्र–** सचित्त और अचित्त मिश्रित वस्तु की भिक्षा लेना।

८. **अपरिणत–** जो पूर्ण रूप से प्रासुक-अचित्त न हो, उस वस्तु का ग्रहण।

९. **लिप्त–** हाथ, पात्र आदि को दही आदि से लिप्त कर दी जाने वाली भिक्षा, जिसे ग्रहण करने के बाद हाथ आदि धोने से पश्चात् कर्म दोष की संभावना हो।

१०. **छर्दित–** अशन आदि को भूमि पर गिराते हुए दे, वह भिक्षा लेना।

सज्झायादि-अइयार-पडिक्कमण-सुत्तं

७. पडिक्कमामि चाउकालं सज्झायस्स अकरणयाए, उभओकालं भंडोवगरणस्स अप्पडिलेहणाए दुप्पडिलेहणाए अप्पमज्जणाए दुप्पमज्जणाए अइक्कमे वइक्कमे अइयारे अणायारे जो मे देवसिओ अइयारो कओ, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

स्वाध्यायादि-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्रम्

प्रतिक्रामामि चतुष्कालं स्वाध्यायस्य अकरणे उभयकालं भाण्डोपकरणस्य अप्रतिलेखनायां दुष्प्रतिलेखनायां अप्रमार्जनायां दुष्प्रमार्जनायां अतिक्रमे व्यतिक्रमे अतिचारे अनाचारे यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।

स्वाध्यायादि-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्र

मैं प्रतिक्रमण करता हूं– चातुष्कालिक स्वाध्याय[1] न किया हो, दोनों समय–दिन के प्रथम तथा अन्तिम प्रहर में पात्र, वस्त्र आदि उपकरणों का प्रतिलेखन न किया हो, अविधि से किया हो, स्थान आदि का प्रमार्जन न किया हो[2], अविधि से किया हो, अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार[3] इस विषय में जो मैंने दैवसिक अतिचार किया तो तो उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।

टिप्पण

1. चातुष्कालिक स्वाध्याय (चाउकालं सज्झायस्स)

दिन के प्रथम और चतुर्थ प्रहर तथा रात्रि के प्रथम और चतुर्थ प्रहर– यह चातुष्कालिक स्वाध्याय है।[1]

2. प्रतिलेखन न किया हो....प्रमार्जन न किया हो (अप्पडिलेहणाए.....अप्पमज्जणाए)

प्रतिलेखन और प्रमार्जन– ये दोनों परस्पर संबंधित हैं। जहां प्रतिलेखना का निर्देश होता है, वहां प्रमार्जन स्वयं आ जाती है और जहां प्रमार्जन का निर्देश होता है, वहां प्रतिलेखन स्वयं प्राप्त होती है। प्रतिलेखन का अर्थ है 'दृष्टि से देखना' और प्रमार्जन का अर्थ है 'रजोहरण आदि से साफ करना'। पहले प्रतिलेखन और तत्पश्चात् प्रमार्जन किया जाता है।

प्रतिलेखन एवं प्रमार्जन के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य उत्तरज्झयणाणि अ. २६/८ का टिप्पण।

3. अतिक्रम.....अनाचार (अइक्कमे.....अणायारे)

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार– ये चारों अकल्प्य वस्तु को ग्रहण करने के दोष हैं। इनका स्वरूप बताने के लिए चूर्णिकार और वृत्तिकार ने एक दृष्टान्त दिया है–

आधाकम्मनिमंतणे सुणमाणे अइक्कमो होइ।
पयभेयाइ वइक्कम गहिए तइएयरो गिलिए।।

एक व्यक्ति ने साधु के निमित्त आहार पकाया। उसने साधु को उस आधाकर्म आहार-ग्रहण करने का निमंत्रण दिया। साधु ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। यह 'अतिक्रम' दोष है। वह मुनि आहार लाने के लिए पात्र आदि व्यवस्थित करता है, यह भी 'अतिक्रम' दोष है। आधाकर्म आहार लेने के लिए अपने उपाश्रय से प्रस्थान कर देता है, यह 'व्यतिक्रम' दोष है। दाता ने मुनि को देने के लिए वह भोजन-सामग्री उठाई, वह भी 'व्यतिक्रम' दोष है। साधु ने वह आहार पात्र में ले लिया, यह 'अतिचार' दोष है। मुनि वह अकल्प्य आहार लेकर अपने स्थान पर आ गया और भोजन करने बैठ गया। जब वह उस आहार का कवल ग्रहण करता है, तब तक वह 'अतिचार' दोष है। जब मुनि उस कवल को अपने मुंह में डाल देता है, तब वह 'अनाचार दोष' कहलाता है।[2] अतिक्रम आदि चतुष्क का यह अर्थ भी प्राप्त होता है–

अतिक्रम–दोष सेवन के लिए मानसिक संकल्प।
व्यतिक्रम–दोष सेवन के लिए प्रस्थान।
अतिचार–दोष सेवन के लिए तत्पर होना, सामग्री जुटाना।
अनाचार–दोष का आसेवन करना।[3]

---

१. आ.चू. (द्वि) पृ. ७५– दिया पढमचरिमासु रत्तिं पि पढमचरिमासु चेव पोरिसीसु सज्झायो अवस्स कातव्वो।

२. (क) वही, पृ. ७५–एगो साधू आहाकम्मेण निमंतिओ पडिस्सुणेति अतिक्कमो, उग्गाहिते वि जाव उवयोगे ठितेण संदिसावितं सो वि अतिक्कमो, जाहे पदभेदो कतो ताहे वतिक्कमो, जाव उक्खित्ता भिक्खा तह वि वतिक्कमो, जाहे भायणे छूढं ताहे अतियारो, जाव लंबणे उक्खिवइ तह वि अइयारो, जाहे णेण मुहे पक्खित्तो ताहे अणायारो, एवंविहा भावेयव्वा।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५८

३. उवासगदसाओ सूत्र ३१ का टिप्पण।

एगविधादि-अइयार-पडिक्कमण-सुत्तं	एकविधादि-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्रं	एकविधादि-अतिचार-प्रतिक्रमण-सूत्र
८. पडिक्कमामि एगविहे असंजमे।	प्रतिक्रामामि एकविधात् असंयमात्।	प्रतिक्रमण करता हूं, एकविध असंयम से[1]।
पडिक्कमामि दोहिं बंधणेहिं– रागबंधणेणं दोसबंधणेणं।	प्रतिक्रामामि द्वयोर्बन्धनाभ्याम् रागबन्धनात् दोषबन्धनात्।	प्रतिक्रमण करता हूं दोनों बंधनों से[2]–राग बन्धन से, द्वेष बन्धन से।
पडिक्कमामि तिहिं दंडेहिं– मणदंडेणं वइदंडेणं कायदंडेणं।	प्रतिक्रामामि त्रिभ्यः दण्डेभ्यः मनोदण्डात् वाग्दण्डात् कायदण्डात्।	प्रतिक्रमण करता हूं तीनों दंडों से[3]–मन:दण्ड से, वचन दण्ड से, काय दण्ड से।
पडिक्कमामि तिहिं गुत्तीहिं– मणगुत्तीए वइगुत्तीए कायगुत्तीए।	प्रतिक्रामामि त्रिभ्यः गुप्तिभ्यः मनोगुप्तेः वागुप्तेः कायगुप्तेः।	प्रतिक्रमण करता हूं तीनों गुप्तियों से[4]–मन गुप्ति से, वचन गुप्ति से, काय गुप्ति से।
पडिक्कमामि तिहिं सल्लेहिं– मायासल्लेणं निआणसल्लेणं मिच्छादंसणसल्लेणं।	प्रतिक्रामामि त्रिभ्यः शल्येभ्यः मायाशल्यात् निदानशल्यात् मिथ्यादर्शनशल्यात्।	प्रतिक्रमण करता हूं तीनों शल्यों से[5]–माया शल्य से, निदान शल्य से, मिथ्यादर्शन शल्य से।
पडिक्कमामि तिहिं गारवेहिं– इड्ढीगारवेणं रसगारवेणं सायागारवेणं।	प्रतिक्रामामि त्रिभ्यः गौरवेभ्यः ऋद्धिगौरवात् रसगौरवात् सातगौरवात्।	प्रतिक्रमण करता हूं तीनों गौरवों से[6]–ऋद्धि गौरव से, रस गौरव से, साता गौरव से।
पडिक्कमामि तिहिं विराहणाहिं- नाणविराहणाए दंसणविराहणाए चरित्तविराहणाए।	प्रतिक्रामामि त्रिभ्यः विराधनाभ्यः ज्ञान-विराधनायाः दर्शनविराधनायाः चारित्र-विराधनायाः।	प्रतिक्रमण करता हूं तीनों विराधनाओं से[7]–ज्ञान की विराधना से, दर्शन की विराधना से, चारित्र की विराधना से।
पडिक्कमामि चउहिं कसाएहिं– कोहकसाएणं माणकसाएणं मायाकसाएणं लोभकसाएणं।	प्रतिक्रामामि चतुर्भ्यः कषायेभ्यः क्रोधकषायात् मानकषायात् मायाकषायात् लोभकषायात्।	प्रतिक्रमण करता हूं चारों कषायों से[8]–क्रोध कषाय से, मान कषाय से, माया कषाय से, लोभ कषाय से।
पडिक्कमामि चउहिं सण्णाहिं– आहारसण्णाए भयसण्णाए मेहुणसण्णाए परिग्गहसण्णाए।	प्रतिक्रामामि चतसृभ्यः संज्ञाभ्यः आहार-संज्ञायाः भयसंज्ञायाः मैथुनसंज्ञायाः परिग्रहसंज्ञायाः।	प्रतिक्रमण करता हूं चारों संज्ञाओं से[9]–आहार संज्ञा से, भय संज्ञा से, मैथुन संज्ञा से, परिग्रह संज्ञा से।
पडिक्कमामि चउहिं विकहाहिं– इत्थिकहाए भत्तकहाए देसकहाए रायकहाए।	प्रतिक्रामामि चतसृभ्यः विकथाभ्यः स्त्री-कथायाः भक्तकथायाः देशकथायाः राजकथायाः।	प्रतिक्रमण करता हूं चारों विकथाओं से[10]–स्त्री कथा से, भक्त कथा से, देश कथा से, राज कथा से।
पडिक्कमामि चउहिं झाणेहिं– अट्टेणं झाणेणं रुद्देणं झाणेणं धम्मेणं झाणेणं सुक्केणं झाणेणं।	प्रतिक्रामामि चतुर्भ्यः ध्यानेभ्यः आर्त्तध्यानात् रौद्रध्यानात् धर्मध्यानात् शुक्लध्यानात्।	प्रतिक्रमण करता हूं चारों ध्यानों से[11]–आर्त्त ध्यान से, रौद्र ध्यान से, धर्म ध्यान से, शुक्ल ध्यान से।
पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं– काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारितावणियाए पाणाइवायकिरियाए।	प्रतिक्रामामि पञ्चभ्यः क्रियाभ्यः कायिक्याः आधिकरणिक्याः प्रादेषिक्याः पारितापनिक्याः प्राणातिपातक्रियायाः।	प्रतिक्रमण करता हूं पांचों क्रियाओं से[12]–कायिकी (शरीर से होने वाली) क्रिया से, आधिकरणिकी (शस्त्र आदि हिंसक उपकरण वाली अथवा कलह संबंधी) क्रिया से, प्राद्वेषिकी (प्रद्वेष से होने वाली) क्रिया से, पारितापनिकी (दूसरों को तप्त करने की) क्रिया से, प्राणातिपात (जीव हिंसा से होने वाली) क्रिया से।
पडिक्कमामि पंचहिं कामगुणेहिं– सद्देणं रूवेणं गंधेणं रसेणं फासेणं।	प्रतिक्रामामि पञ्चभ्यः कामगुणेभ्यः शब्दात् रूपात् गंधात् रसात् स्पर्शात्।	प्रतिक्रमण करता हूं पांचों कामगुणों से[13]–शब्द से, रूप से, गन्ध से, रस से, स्पर्श से।
पडिक्कमामि पंचहिं महव्वएहिं–	प्रतिक्रामामि पञ्चभ्यः महाव्रतेभ्यः प्राणाति-	प्रतिक्रमण करता हूं पांचों महाव्रतों से[14]–

पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायाओ वेरमणं अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहाओ वेरमणं।	पाताद् विरमणं मृषावादात् विरमणं अदत्तादानाद् विरमणं मैथुनाद् विरमणं परिग्रहाद् विरमणं।	प्राणातिपात विरमण से, मृषावाद विरमण से, अदत्तादान विरमण से, मैथुन विरमण से, परिग्रह-विरमण से।
पडिक्कमामि पंचहिं समिईहिं– इरियासमिईए भासासमिईए एसणासमिईए आयाणभंडमत्त-निक्खेवणासमिईए उच्चार-पासवण - खेल - सिंघाण-जल्ल-पारिट्ठावणियासमिईए।	प्रतिक्रामामि पञ्चभ्यः समितिभ्यः ईर्यासमितेः भाषासमितेः एषणासमितेः आदानभाण्डामत्र-निक्षेपणासमितेः उच्चारप्रस्रवणक्ष्वेलसिंघाण-जल्लपारिस्थापनिकी समितेः।	प्रतिक्रमण करता हूं पांचों समितियों से[15]–ईर्या समिति से, भाषा समिति से, एषणा समिति से, आदान-भाण्डामत्रनिक्षेपणा (उपकरण, पात्र आदि लेने तथा रखने की) समिति से, उच्चार-प्रस्रवण - खेल - सिंघाण - जल्ल परिस्थापनिका (मल, मूत्र, कफ, श्लेष्म और मैल के व्युत्सर्ग की) समिति से।
पडिक्कमामि छहिं जीवनिकाएहिं– पुढविकाएणं आउकाएणं तेउकाएणं वाउकाएणं वणस्सइकाएणं तसकाएणं।	प्रतिक्रामामि षड्भ्यः जीवनिकायेभ्यः पृथ्वीकायात् अप्कायात् तेजस्कायात् वायुकायात् वनस्पतिकायात् त्रसकायात्।	प्रतिक्रमण करता हूं छहों जीवनिकायों से– पृथ्वीकाय से, अप्काय से, तेजस्काय से, वायुकाय से, वनस्पतिकाय से, त्रसकाय से।
पडिक्कमामि छहिं लेसाहिं- किण्हलेसाए नीललेसाए काउलेसाए तेउलेसाए पम्हलेसाए सुक्कलेसाए।	प्रतिक्रामामि षड्भ्यः लेश्याभ्यः कृष्णलेश्यायाः नीललेश्यायाः कापोतलेश्यायाः तेजोलेश्यायाः पद्मलेश्यायाः शुक्ललेश्यायाः।	प्रतिक्रमण करता हूं छहों लेश्याओं से[16]–कृष्ण लेश्या से, नील लेश्या से, कापोत लेश्या से, तेजो लेश्या से, पद्म लेश्या से, शुक्ल-लेश्या से।
सत्तहिं भयट्ठाणेहिं।	(प्रतिक्रामामि)–सप्तभ्यः भयस्थानेभ्यः।	सातों भय-स्थानों से।[17]
अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं।	अष्टभ्यः मदस्थानेभ्यः।	आठों मद-स्थानों से।[18]
नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं।	नवभ्यः ब्रह्मचर्यगुप्तिभ्यः।	नवों ब्रह्मचर्य-गुप्तियों से।[19]
दसविहे समणधम्मे।	दसविधात् श्रमणधर्मात्।	दस प्रकार के श्रमणधर्म से।[20]
एगारसहिं उवासगपडिमाहिं।	एकादशभ्यः उपासकप्रतिमाभ्यः।	ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं से।[21]
बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं।	द्वादशभ्यः भिक्षुप्रतिमाभ्यः।	बारह भिक्षु प्रतिमाओं से।[22]
तेरसहिं किरियाट्ठाणेहिं।	त्रयोदशभ्यः क्रियास्थानेभ्यः।	तेरह क्रियास्थानों से[23] (कर्म-बंध की हेतुभूत प्रवृत्ति से)।
चउद्दसहिं भूयगामेहिं।	चतुर्दशभ्यः भूतग्रामेभ्यः।	चौदह जीव-समूह से।[24]
पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं।	पञ्चदशभ्यः परमाधार्मिकेभ्यः।	पन्द्रह परमाधार्मिक देवों से।[25]
सोलसहिं गाहासोलसएहिं।	षोडशभ्यः गाथाषोडशकेभ्यः।	सोलह गाथाषोडशक (सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययनों) से।[26]
सत्तरसविहे असंजमे।	सप्तदशविधात् असंयमात्।	सतरह प्रकार के असंयम से।[27]
अट्ठारसविहे अबंभे।	अष्टादशविधात् अब्रह्मणः।	अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से।[28]
एगूणवीसाए नायज्झयणेहिं।	एकोनविंशतेः ज्ञाताध्ययनेभ्यः।	उन्नीस ज्ञाता (धर्मकथा) के अध्ययनों से।[29]
वीसाए असमाहिट्ठाणेहिं।	विंशतेः असमाधिस्थानेभ्यः।	बीस असमाधि स्थानों से।[30]
एगवीसाए सबलेहिं।	एकविंशतिभ्यः शबलेभ्यः।	इक्कीस शबलों से।[31]
बावीसाए परीसहेहिं।	द्वाविंशतिभ्यः परीषहेभ्यः।	बाईस परीषहों से।[32]
तेवीसाए सूयगडज्झयणेहिं।	त्रयोविंशतिभ्यः सूत्रकृताध्ययनेभ्यः।	सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों से।[33]
चउवीसाए देवेहिं।	चतुर्विंशतिभ्यः देवेभ्यः।	चौबीस देवों से।[34]
पंचवीसाए भावणाहिं।	पञ्चविंशतिभ्यः भावनाभ्यः।	पच्चीस भावनाओं से।[35]

छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं।	षड्विंशतिभ्यः दशाकल्पव्यवहाराणामुद्देशन-कालेभ्यः।	छब्बीस दशा (श्रुतस्कन्ध के दस) कल्प (के छह) व्यवहार (के दस) के उद्देशन कालों से।[36]
सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं।	सप्तविंशतिभ्यः अनगारगुणेभ्यः।	सत्ताईस अनगार गुणों से।[37]
अट्ठावीसतिविहे आयारपकप्पे।	अष्टविंशतिविधात् आचारप्रकल्पात्।	अट्ठाईस प्रकार के आचारप्रकल्पों से।[38]
एगूणतीसाए पावसुयपसंगेहिं।	एकोनत्रिंशद्भ्यः पापश्रुतप्रसंगेभ्यः।	उनतीस पापश्रुतप्रसंगों से।[39]
तीसाए मोहणीयट्ठाणेहिं।	त्रिंशद्भ्यः मोहनीयस्थानेभ्यः।	तीस मोहनीय स्थानों से।[40]
एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं।	एकत्रिंशद्भ्यः सिद्धादिगुणेभ्यः।	इकतीस सिद्धों के आदि-गुणों से।[41]
बत्तीसाए जोगसंगहेहिं।	द्वात्रिंशद्भ्यः योगसंग्रहेभ्यः।	बत्तीस योग-संग्रहों से।[42]
तेत्तीसाए आसायणाहिं–	त्रयस्त्रिंशद्भ्यः आशातनाभ्यः।	तेतीस आशातनाओं से[43]–
अरहंताणं आसायणाए	अर्हताम् आशातनायाः	अर्हतों की आशातना से
सिद्धाणं आसायणाए	सिद्धानाम् आशातनायाः	सिद्धों की आशातना से
आयरियाणं आसायणाए	आचार्याणाम् आशातनायाः	आचार्यों की आशातना से
उवज्झायाणं आसायणाए	उपाध्यायानाम् आशातनायाः	उपाध्यायों की आशातना से
साहूणं आसायणाए	साधूनाम् आशातनायाः	साधुओं की आशातना से
साहुणीणं आसायणाए	साध्वीनाम् आशातनायाः	साध्वियों की आशातना से
सावयाणं आसायणाए	श्रावकाणाम् आशातनायाः	श्रावकों की आशातना से
सावियाणं आसायणाए	श्राविकाणाम् आशातनायाः	श्राविकाओं की आशातना से
देवाणं आसायणाए	देवानाम् आशातनायाः	देवों की आशातना से
देवीणं आसायणाए	देवीनाम् आशातनायाः	देवियों की आशातना से
इहलोगस्स आसायणाए	इहलोकस्य आशातनायाः	इहलोक की आशातना से
परलोगस्स आसायणाए	परलोकस्य आशातनायाः	परलोक की आशातना से।
केवलिपण्णत्तस्स धम्मस्स आसायणाए	केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्य आशातनायाः	केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आशातना से,
सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स आसायणाए	सदेवमनुष्यासुरस्य लोकस्य आशातनायाः	देवलोक, मनुष्यलोक और असुरलोक की आशातना से,
सव्वपाणभूयजीवसत्ताणं आसायणाए	सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वानाम् आशातनायाः	सर्व प्राण, भूत, जीव, सत्वों की आशातना से,
कालस्स आसायणाए	कालस्य आशातनायाः	काल की आशातना से,
सुयस्स आसायणाए	श्रुतस्य आशातनायाः	श्रुत की आशातना से,
सुयदेवयाए आसायणाए	श्रुतदेवताया आशातनायाः	श्रुतदेवता की आशातना से,
वायणायरियस्स आसायणाए	वाचनाचार्यस्य आशातनायाः	वाचनाचार्य की आशातना से,
जं वाइद्धं वच्चामेलियं हीणक्खरं अच्चक्खरं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठुदिन्नं दुट्ठु-पडिच्छियं अकाले कओ सज्झाओ काले न कओ सज्झाओ असज्झाइए सज्झाइयं सज्झाइए न सज्झाइयं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।	यद् व्याविद्धं व्यत्यामेलितं हीनाक्षरं अत्यक्षरं पदहीनं विनयहीनं घोषहीनं योगहीनं सुष्ठु-अदत्तं दुष्ठुप्रतीच्छितं अकाले कृतः स्वाध्यायः काले न कृतः स्वाध्यायः अस्वाध्यायिके स्वाधीतं स्वाध्यायिके न स्वाधीतं तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।	जो सूत्रपाठ को विपर्यस्त किया हो– आगे पीछे किया हो, मूल पाठ में अन्यपाठ का मिश्रण किया हो, अक्षरों की न्यूनता की हो, अक्षरों की अधिकता की हो, पद की न्यूनता की हो, विराम-रहित पढा हो, घोष-रहित पढा हो, संबंध-रहित पढा हो, ज्ञान अच्छी तरह से न दिया हो, ज्ञान को गलत तरह से ग्रहण किया हो, अकाल में स्वाध्याय किया हो, काल में स्वाध्याय न किया हो, अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय किया हो।[44] स्वाध्यायिक में स्वाध्याय न किया हो तो उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।

टिप्पण

1. असंयम से (असंजमे)

असंयम का अर्थ है– अविरति। समग्रता से वह एक प्रकार का है। भेद करने पर उसके अनेक भेद हो सकते हैं।

2. बंधनों से (बंधणेहिं)

जिससे जीव कर्मों से बंधता है, वह बंधन है। वह दो प्रकार का है– राग और द्वेष। जिससे जीव प्रियता का संवेदन करता है वह राग है, जिससे जीव अप्रियता का संवेदन करता है वह द्वेष है।

जिस प्रकार तैल चुपड़े हुए शरीर पर रेणु चिपक जाती है, उसी प्रकार राग, द्वेष से भीगे हुए जीव के कर्मों का बंध होता है।

3. दंडों से (दंडेहिं)

दंड का अर्थ है– दंडित करने की प्रवृत्ति। वह दो प्रकार का है– द्रव्य दंड और भाव दंड। कोई अपराध करने पर राजा अथवा अन्य व्यक्ति द्वारा वध, बंधन, ताडना आदि के द्वारा दंडित करना द्रव्य दंड है। आत्मा को दंडित करने वाले अध्यवसायों अथवा प्रवृत्तियों को भाव दंड कहा गया है। वे तीन हैं–

१. मनोदंड– मन का दुष्प्रणिधान,

२. वाग्दंड– वचन का दुष्प्रणिधान,

३. कायदंड– शारीरिक दुष्प्रणिधान।

अथवा दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काया ही दंड है।

दण्ड के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य उत्त. ३१/४ का टिप्पण।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने मनोदंड, वाग्दंड तथा कायदंड को स्पष्ट समझाने के लिए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[१]

4. गुप्तियों से (गुत्तीहिं)

गुप्ति का अर्थ है– निवर्तन। वे तीन प्रकार की हैं–

मनोगुप्ति–असत् चिन्तन से निवर्तन।

वचनगुप्ति–असत् वाणी से निवर्तन।

कायगुप्ति–असत् प्रवृत्ति से निवर्तन।

जिस प्रकार क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड़, नगर की रक्षा के लिए खाई या प्राकार होता है, उसी प्रकार श्रामण्य की सुरक्षा के लिए, पाप के निरोध के लिए गुप्ति है।[२]

गुप्ति के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य उत्तराध्ययन २४/२०-२५ एवं २९/५५ का टिप्पण।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने मनोगुप्ति, वचोगुप्ति तथा कायगुप्ति को स्पष्ट समझाने के लिए उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।[३]

5. शल्यों से (सल्लेहिं)

शल्य का अर्थ है–अन्तर में घुसा हुआ दोष अथवा जिससे विकास बाधित होता है, उसे शल्य कहते हैं।[४] जो चुभता है, वह शल्य है। जैसे कांटा चुभने पर मनुष्य सर्वांगवेदना का अनुभव करता है और उसके निकल जाने पर सुख की सांस लेता है, वैसे ही दोष रूपी कांटा चुभ जाता है, तब साधक की आत्मा दुःखित हो जाती है और उसके निकलने पर उसे आनन्द का अनुभव होता है।[५]

आवश्यक चूर्णि में इसके दो भेद किए हैं–द्रव्य शल्य, भाव शल्य। कंटक आदि द्रव्य शल्य हैं। अपराध करके उसकी आलोचना न करना भावशल्य है।[६] वह भाव शल्य तीन प्रकार का है– माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य।

मायाशल्य– मायापूर्ण आचरण। दोष सेवन करके उसकी आलोचना न करना, सम्पूर्ण रूप से उसकी आलोचना न करना अथवा दोष का सेवन कर कुछ आलोचना करना तथा अपने दोष को दूसरों पर आरोपित करना मायाशल्य है।[७] चूर्णिकार और वृत्तिकार ने मायाशल्य पर पंडरार्या (पंडरज्जा) का संकेत किया है।[८]

पंडर आर्या एक शिथिलाचारिणी साध्वी थी। वह अनेक विद्याओं को जानती थी। उन विद्याओं के चमत्कार से लोग उसे बहुत सम्मान देते थे। वह विद्याओं का प्रयोग भी करती थी।

---

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७७
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. ५८

२. मूलाराधना ६।११८६
छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स।।

३. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ७८
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ५९

४. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, पत्र ६१२

५. मूलाराधना ४/५३६,५३७

६. आ.चू. (द्वि) पृ. ७९– तत्थ दव्वसल्लो कंटगादी, भावसल्लो जं अवराहट्ठाणं समायरित्ता नालोएति।

७. वही (द्वि) पृ. ७९– मायासल्लो त्ति अप्पणा अवराधं कातूण भणति– न करेमि, अण्णस्स वा पाडेति, असंपुण्णं वा आलोएति, पडिकुंचति।

८. (क) वही, (द्वि) पृ. ७९–इतराए पंडरज्जा।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि.) पृ. ५९–मायाशल्ये पण्डुरार्या चोक्ता।

आचार्य द्वारा निषेध करने पर भी वह प्रयोग करती रहती।

आधी उम्र बीत जाने पर उसे विरक्ति हुई और उसने विद्याओं का प्रयोग छोड़ दिया। लोगों की भीड़ कम हो गई। अपने एकाकीपन को न सह सकने के कारण उसने पुनः विद्याओं का प्रयोग प्रारम्भ किया। लोगों की भीड़ होने लगी। आचार्य द्वारा निषिद्ध करने पर उसने आत्मालोचना की। दो-तीन बार ऐसा ही करती रही। पर अपनी मानसिक दुर्बलता के कारण चौथी बार उसने पुनः विद्याओं का प्रयोग प्रारम्भ किया। आचार्य के पूछने पर उसने माया से अपनी बात अन्यथा रूप से निवेदित की। अपने दोष की आलोचना किए बिना ही वह मर गई और इन्द्र के पट्टहस्ती की पत्नी बनी।[1]

निदानशल्य– ऐहिक और पारलौकिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय।

जिस संकल्प की प्राप्ति निश्चित हो, वह निदान है। निदान का कोई प्रतिकार नहीं होता। वे कर्म निश्चित ही उदय में आते हैं। देवता और मनुष्य की ऋद्धि को देखकर या सुनकर उसकी तीव्र अभिलाषा करना निदान है। जो व्यक्ति निदान करता है, उसे चारित्र की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वह अधिकरण का अनुमोदन करता है। यह अधिकरण का अनुमोदन ही उसे चुभता रहता है।[2]

ब्रह्मदत्त का कथानक निदानशल्य का प्रतीक है। **द्रष्टव्य– उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन-१३।**

मिथ्यादर्शनशल्य– आत्मा का मिथ्यात्वमय दृष्टिकोण।

तत्त्व के प्रति विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यादर्शन है। यह मोहनीय कर्म के उदय से होता है। मिथ्यादर्शन के द्वारा जिन कर्मों का बंध होता है, वे आत्मा में चुभते रहते हैं। मिथ्यादर्शन तीन प्रकार का होता है– १. अभिनिवेश से होने वाला,[3] २. मतिमोह से होने वाला,[4] ३. अन्यतीर्थिकों के संस्तव से होने वाला।

6. गौरवों से (गारवेहिं)

गौरव का अर्थ है–अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था।

वृत्तिकार ने गौरव के दो प्रकार किए हैं–द्रव्य गौरव और भाव गौरव। वज्र आदि द्रव्य गौरव है। अभिमान और लोभ के द्वारा आत्मा का ऐसे अशुभ कर्मों से भारी होना जो उसके संसार-भ्रमण के हेतु बनते हैं, वे भाव गौरव हैं।[5] उसके तीन प्रकार हैं–

१. ऋद्धि गौरव– राजा, आचार्य आदि की ऋद्धि को प्राप्त करने की कामना करना तथा उसके मिलने पर अभिमान ग्रस्त रहना तथा अप्राप्त की निरन्तर वांछा करना ऋद्धि गौरव है।

२. रस गौरव– इष्ट रस– भोज्य सामग्री की प्राप्ति होने पर उसका अभिमान करना तथा अप्राप्त के प्रति निरन्तर आकांक्षित रहना, लोभाकुल होना रस गौरव है।

३. सात गौरव– सात का अर्थ है– सुख। शयन, आसन, वसति, वस्त्र आदि के प्रति प्रतिबद्ध होना तथा अप्राप्त सुख की निरन्तर अभिलाषा करना सात गौरव है।

ऋद्धि गौरव, रस गौरव तथा सात गौरव पर चूर्णिकार और टीकाकार ने आचार्य मंगु का उदाहरण दिया है[6]–

मथुरा नगरी में आचार्य मंगु विहरण कर रहे थे। वहां उनके बहुत उपासक थे। वे आचार्य मंगु की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करते और उन्हें प्रणीत भोजन, पान, शयनासन से संतुष्ट करते थे। आचार्य मंगु उन उपासकों की भक्ति के वशीभूत होकर तीनों गौरवों में प्रतिबद्ध हो गए। जिह्वा की लोलुपता और इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के प्रति वे आसक्त होकर दिवंगत हो गए। मथुरा नगरी के राजमार्ग पर एक यक्षायतन था। उसी यक्षायतन में वे यक्षरूप में उत्पन्न हुए। उस यक्षायतन के निकट से ही मुनिगण संज्ञाभूमि में जाते थे। उस समय यक्ष की मूर्ति में प्रविष्ट होकर आचार्य मंगु अपनी जिह्वा को लम्बी कर प्रदर्शित करते। एक बार साधु के पूछने पर यक्ष ने कहा– मैं गौरव प्रतिबद्ध मंगु हूं। मैं यहां उत्पन्न हुआ हूं। जो शिष्य गौरवों से प्रतिबद्ध होगा, उसकी यही गति होगी, यह बताने के लिए मैं जिह्वा दिखा रहा हूं। यह देख सुनकर सभी मुनि गौरवों से शून्य हो गए।

7. विराधनाओं से (विराहणाहिं)

विराधना का अर्थ है– खंडित करना, भंग करना। प्रस्तुत सूत्र में ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विराधना का उल्लेख है।

ज्ञान-विराधना

ज्ञान की विराधना करना, उसमें तुच्छता आपादित करना ज्ञान-विराधना है। उसके पांच प्रकार हैं–

१. ज्ञान-प्रत्यनीकता– ज्ञान की निंदा करना, जैसे–

(क) आभिनिबोधिक ज्ञान अशोभन है, क्योंकि उसके द्वारा जाना गया तथ्य कभी यथार्थ होता है और कभी अयथार्थ।

(ख) श्रुतज्ञान भी अशोभन है, क्योंकि श्रुतज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति शील-विकल भी होता है।

(ग) अवधिज्ञान भी अशोभन है, क्योंकि वह अरूपी द्रव्यों को साक्षात् नहीं कर सकता।

---

१. दशाश्रुतचूर्णि, पृ. ६२, ६३

२. आ.चू. (द्वि) पृ. ७९– निदानशल्यं निश्चितमादानं निदानं, अप्रतिक्रांतस्य अवश्यमुदयापेक्षः तीव्रः कर्मबंध इत्यर्थः, निदानमेव सल्लो निदानसल्लो, दिव्वं वा माणुसं वा विभवं पासितूण सोऊण वा निदाणस्स उववत्ती भवेज्जा, तेण किं भवति? उच्यते? सणिआणस्स चरित्तं न वट्टति, कस्मात् अधिकरणानुमोदनात्।

३. देखें– गोष्ठामाहिल का उदाहरण– ठाणं, ७/१४० का टिप्पण

४. देखें– जमालि का उदाहरण– ठाणं, ७/१४० का टिप्पण

५. आ.हा.वृ. पृ ६०–गौरवं तच्च द्रव्यभावभेदभिन्नं, द्रव्यगौरवं वज्रादे.....

६. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ८०–अज्जमंगू आयरिओ.....
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ६०–उदाहरणं-मंगु.....।

(घ) मन:पर्यवज्ञान भी अशोभन है, क्योंकि वह भी एक सीमा में प्रतिबद्ध होता है।

(ङ) केवलज्ञान भी अशोभन है, क्योंकि वह भी निरन्तर नहीं होता, एक समय में केवलज्ञान और एक समय में केवलदर्शन होता है।

२. ज्ञान-निह्नवन– ज्ञान का अपलाप करना, गुरु के नाम का अपलाप करना। किसी गुरु से ज्ञान ग्रहण करना और पूछने पर दूसरे का नाम बताना।

३. ज्ञान-अत्याशातना– शास्त्रों की आशातना करना।

४. ज्ञान-अन्तराय– ज्ञान में विघ्न उपस्थित करना।

५. ज्ञान-विसंवादनयोग– अकाल में स्वाध्याय आदि का अनुष्ठान कर ज्ञान के विपरीत प्रवृत्ति करना।[1]

अकाल-स्वाध्याय के विषय में चूर्णिकार ने अकाल में स्वाध्याय करने वाले मुनि के उदाहरण का संकेत दिया है[2]–

एक मुनि रात्रि में स्वाध्याय कर रहा था। वह स्वाध्याय में लीन था। स्वाध्यायकाल अतिक्रान्त हो गया। वह स्वाध्याय करता ही रहा। तब एक सम्यक्त्वी देव ने सोचा– अकाल में स्वाध्याय करने से इसको विपत्ति उठानी पड़ सकती है। अत: देवता ने ग्वालिन का रूप बना, सिर पर छाछ का घड़ा रख 'छाछ लो, छाछ लो' कहता हुआ उस मुनि के उपाश्रय के बाहर गति-आगति करने लगा। मुनि ने दो-चार बार 'छाछ लो, छाछ लो' के शब्द सुने। मुनि ने तब उस ग्वालिन से कहा–'अरे! क्या यह छाछ बेचने का काल है? देख, रात कितनी बीत गई है?' देवता रूपी ग्वालिन बोली–'क्या यह स्वाध्याय का काल है? आप देखें, स्वाध्याय का काल कितना अतिक्रान्त हो चुका है?' मुनि संभल गए। आकाश की ओर देखा, आधी रात बीत चुकी थी।

दर्शन विराधना

सम्यग् दर्शन को खंडित करना दर्शन विराधना है। इसके भी पांच प्रकार हैं–

१. दर्शन-प्रत्यनीकता– क्षायिक दर्शन का धनी श्रेणिक भी नरक में चला गया।

२. दर्शन-निन्हवन– दर्शन की प्रभावना करने वाले शास्त्र का अपलाप करना।

३. दर्शन-अत्याशातना– दर्शन शास्त्रों का तिरस्कार करना। इन शास्त्रों से क्या, जो कलहकारी हैं।

४. दर्शन-अन्तराय– दर्शन में विघ्न उपस्थित करना।

५. दर्शन-विसंवादनयोग– शंका, कांक्षा आदि दोषों के द्वारा दर्शन के विपरीत प्रवृत्ति करना।[3]

चारित्र विराधना

व्रतों का खंडन चारित्र-विराधना है। चारित्र पांच हैं– सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापनीय चारित्र, परिहारविशुद्धि चारित्र, सूक्ष्मसंपराय चारित्र और यथाख्यात चारित्र। इन पांचों में दोषापत्ति करना चारित्र विराधना है।

चारित्र विराधना के विषय में चूर्णिकार ने 'क्षुल्लक मुनि' के उदाहरण का संकेत किया है[4]–

एक वृद्ध पुरुष पुत्र सहित प्रव्रजित हुआ। वृद्ध को पुत्र अतीव इष्ट था। एक बार दु:ख प्रकट करते हुए वह कहने लगा–'बिना जूते के चला नहीं जाता।' अनुकम्पावश वृद्ध ने उसे जूतों की छूट दी। तब क्षुल्लक बोला– ऊपर का तला ठंड से फटता है। वृद्ध ने मोजे करा दिये। तब कहने लगा– सिर अत्यन्त जलने लगता है। वृद्ध ने शिर ढंकने के वस्त्र की आज्ञा दी। तब बोला– भिक्षा के लिए नहीं घूमा जाता। वृद्ध ने वहीं उसे भोजन लाकर देना शुरू किया। फिर बोला– भूमि पर नहीं सोया जाता। वृद्ध ने बिछौने की आज्ञा दी। फिर बोला– लोच कराना दुष्कर है। वृद्ध ने क्षुर को काम में लेने की आज्ञा दी। फिर बोला– बिना स्नान नहीं रहा जाता। वृद्ध ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस तरह वृद्ध साधु स्नेहवश बालक साधु की इच्छानुसार करता जाता था। काल बीतने पर बालक साधु बोला– मैं बिना स्त्री के नहीं रह सकता। वृद्ध ने यह जानकर कि यह शठ है, अयोग्य है, उसे अपने आश्रय से दूर कर दिया।

वह क्षुल्लक कुछ भी व्यवसाय नहीं जानता था। एक बार वह एक गांव में गया। वहां बड़े जीमनवार का आयोजन था। वह उसमें गया। अत्यधिक खाने से वह अजीर्ण रोग से ग्रस्त होकर मर गया। विषयासक्ति में मरने के कारण वह भैंसा बना। वह वाहन में जुतता और भार ढोता था। वह वृद्ध मुनि श्रामण्य का पालन करते हुए आयुष्य को पूरा कर देव रूप में उत्पन्न हुआ। उसने अपने अवधिज्ञान से पूर्व स्नेहिल शिष्य को भैंसे के रूप में देखा। वह उस नगर में वणिक्रूप में आया और भैंसे के मालिक से भैंसा खरीद लिया। उसने वैक्रिय शकट का निर्माण कर उस भैंसे को जोता और अत्यंत भार लादकर उस शकट को चलाया। जब भैंसा उस गुरुतर

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ६०–ज्ञानविराधना–ज्ञानप्रत्यनीकतादि लक्षणा तया, उक्तं च।
णाणपडिणीय णिण्हव, अच्चासायण तदंतरायं च।
कुणमाणस्सऽइयारो, णाणविसंवादजोगं च।।

२. आ.चू. (द्वि) पृ. ८०–अकालसज्झायकारओ उदाहरणम्।

३. आ.हा.वृ.पृ. ६०–
दर्शनं सम्यग्दर्शनं तस्य विराधना दर्शनविराधना तया, असावप्येवमेव पञ्चभेदा तत्र दर्शनप्रत्यनीकता क्षायिक-दर्शनिनोऽपि श्रेणिकादयो नरकमुपगता इति निन्दया, निह्नव:– दर्शनप्रभावनीयशास्त्रापेक्षया प्राग्वद् द्रष्टव्य:, अत्याशातना– किमेभि: कलहशास्त्रैरिति? अन्तरायं प्राग्वत् दर्शनविसंवादयोग:– शंकादिना।

४. आ.चू. (द्वि) पृ. ८०–
चरित्तविराहणाए खुड्डओ सुतओ जातो।

भार को वहन करने में समर्थ नहीं हुआ तब शकटवाहक उस पर बलपूर्वक चाबुक से प्रहार करता हुआ बोला– 'मैं भिक्षा के लिए घूम नहीं सकता, मैं भूमि पर सो नहीं सकता, मैं लुंचन नहीं कर सकता'– इस प्रकार पूर्वोच्चारित सारे वचन सुनाए। .....उनको सुनकर भैंसे को जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हुआ। भैंसा भक्तप्रत्याख्यान के द्वारा मृत्यु का वरण कर देव बना।[१]

8. कषायों से (कसाएहिं)

जीव में विकार पैदा करने वाले परमाणु 'मोह' कहलाते हैं। जब वे दृष्टि में विकार उत्पन्न करते हैं तब दर्शन-मोह और जब वे चारित्र में विकार उत्पन्न करते हैं, तब चारित्र-मोह कहलाते हैं। चारित्र-मोह के परमाणुओं के दो विभाग हैं– कषाय और नो-कषाय। मूल कषाय चार हैं– क्रोध, मान, माया और लोभ। इन मूल कषायों को उत्तेजित करने वाले परमाणु नो-कषाय कहलाते हैं। वे नौ हैं– स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्सा। कषाय पुनर्जन्म रूपी वृक्ष की जड़ों का सिंचन करते है।[२]

चार मूल कषायों को चार वर्गों में विभक्त किया गया है–

पहला वर्ग–

अनन्तानुबन्धी क्रोध– जैसे पत्थर की रेखा (स्थिरतम)
अनन्तानुबन्धी मान – जैसे पत्थर का खंभा (दृढ़तम)
अनन्तानुबन्धी माया – जैसे बांस की जड़ (वक्रतम)
अनन्तानुबन्धी लोभ – जैसे कृमि-रेशम का रंग (गाढतम)

दूसरा वर्ग–

अप्रत्याख्यान क्रोध – जैसे स्निग्ध मिट्टी की रेखा (स्थिरतर)
अप्रत्याख्यान मान – जैसे हाड का खंभा (दृढतर)
अप्रत्याख्यान माया – जैसे मेढे का सींग (वक्रतर)
अप्रत्याख्यान लोभ – जैसे कीचड़ का रंग (गाढतर)

तीसरा वर्ग–

प्रत्याख्यान क्रोध – जैसे धूलि-रेखा (स्थिर)
प्रत्याख्यान मान – जैसे काठ का खंभा (दृढ)
प्रत्याख्यान माया – जैसे चलते बैल की मूत्रधारा (वक्र)
प्रत्याख्यान लोभ – जैसे खंजन का रंग (गाढ)

चौथा वर्ग–

संज्वलन क्रोध – जैसे जल-रेखा (अस्थिर-तात्कालिक)
संज्वलन मान – जैसे लता का खंभा (लचीला)
संज्वलन माया – जैसे छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)
संज्वलन लोभ – जैसे हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला)

ये चारों वर्ग विशेष गुणों के बाधक हैं–

- अनन्तानुबंधी वर्ग के उदयकाल में सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति नहीं होती।
- अप्रत्याख्यान वर्ग के उदय से व्रतों की प्राप्ति नहीं होती।
- प्रत्याख्यान वर्ग के उदय से महाव्रतों की प्राप्ति नहीं होती।
- संज्वलन वर्ग के उदय से वीतराग-चारित्र (यथाख्यात चारित्र) की प्राप्ति नहीं होती।

कषायों के भेद-प्रभेद के लिए द्रष्टव्य– ठाणं ४/७५ से ९१ तथा उनके टिप्पण।

9. संज्ञाओं से (सण्णाहिं)

संज्ञा के दो अर्थ हैं– आभोग-संवेगात्मक ज्ञान या स्मृति और मनोविज्ञान।[३]

संज्ञा दो प्रकार की होती है। क्षायोपशमिकी और औदयिकी। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होने वाली संज्ञा क्षायोपशमिकी है। वह मतिज्ञान का ही एक प्रकार है। प्रस्तुत प्रकरण में उसका प्रसंग नहीं है। औदयिकी संज्ञा चार प्रकार की हैं– आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा।[४] ये चारों संवेगात्मक संज्ञाएं हैं।

आहारसंज्ञा– इसका शब्दार्थ है– आहार की अभिलाषा। इसकी उत्पत्ति के चार कारण ये हैं– १. पेट के खाली हो जाने से, २. क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से, ३. आहार की बात सुनने से उत्पन्न मति से, ४. आहार के विषय में सतत चिंतन करते रहने से। आहार संज्ञा उत्पन्न होने पर व्यक्ति स्वाध्याय में अपने को व्यापृत नहीं कर पाता।

भय संज्ञा– इसका अर्थ है– भय का अभिनिवेश। इसकी उत्पत्ति के चार कारण ये हैं– १. सत्वहीनता से, २. भयवेदनीय कर्म के उदय से, ३. भय की बात सुनने से उत्पन्न मति से, ४. भय का सतत चिंतन करते रहने से।

मैथुन संज्ञा– मैथुन की अभिलाषा। इसकी उत्पत्ति के चार हेतु ये हैं– १. अत्यधिक मांस-शोणित का उपचय हो जाने से, २. मोहनीय कर्म के उदय से– मोहाणुओं की सक्रियता से, ३. मैथुन की बात सुनने से उत्पन्न मति से, ४. मैथुन का सतत चिंतन करते रहने से।

परिग्रह संज्ञा– तीव्र लोभ से होने वाली परिग्रह की अभिलाषा। इसकी उत्पत्ति के चार कारण ये हैं–१. अविमुक्तता– परिग्रह पास में रहने से, २. लोभ वेदनीय कर्म के उदय से, ३.

१. दशवैकालिक हारिभद्रीया. टी. पृ. ८९
२. दशवैकालिक ८/३९
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स।।
३. स्थानांगवृत्ति पत्र-४७८– संज्ञानं संज्ञा आभोग इत्यर्थः मनोविज्ञानमित्यन्ये।
४. आ.चू (द्वि) पृ. ८०–सण्णा दुविहा खओवसमिया कम्मोदइया य। तत्थ खओवसमिया णाणावरणखओवसमेण आभिणिबोहियसण्णा भवति, ताए एत्थ नाधिगारो, कम्मोदइया चतुव्विहा आहारसण्णा।

परिग्रह को देखने से उत्पन्न मति से, ४. परिग्रह का सतत चिंतन करते रहने से।[1]

ठाणं (१०/१०५) में दस संज्ञाओं का वर्णन मिलता है। वे ये हैं– आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा, लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा।

आचारांग निर्युक्ति में संज्ञा के चौदह प्रकार मिलते हैं।[2]

संज्ञाओं के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– ठाणं १०/१०५ का टिप्पण।

10. विकथाओं से (विकहाहिं)

कथा का अर्थ है–वचन-पद्धति। जिस कथा से संयम में बाधा उत्पन्न होती है, ब्रह्मचर्य प्रतिहत होता है, स्वादवृत्ति बढती है, हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है और राजनीतिक दृष्टिकोण का निर्माण होता है, उसका नाम विकथा है।[3] विकथाएं चार हैं– स्त्रीकथा, भक्तकथा, देशकथा, राजकथा।

स्त्रीकथा– स्त्री संबंधी कथा करना। स्त्रीकथा के चार प्रकार हैं–

१. स्त्रियों की जाति की कथा।

२. स्त्रियों के कुल की कथा।

३. स्त्रियों के रूप की कथा।

४. स्त्रियों के वेशभूषा की कथा।

भक्तकथा– भोजन के विषय में चर्चा करना। भक्तकथा के चार प्रकार हैं–

१. आवाप कथा– रसोई की सामग्री– घृत, साग आदि की चर्चा करना।

२. निर्वाप कथा– पक्व या अपक्व– अन्न व व्यंजन आदि की चर्चा करना।

३. आरंभकथा– इतनी सामग्री और इतना धन आवश्यक होगा– इस प्रकार की चर्चा करना।

४. निष्ठानकथा– इतनी सामग्री और इतना धन लगा– इस प्रकार की चर्चा करना।

देशकथा– देश का अर्थ है– जनपद। देश संबंधी चर्चा करना। देशकथा के चार प्रकार हैं–

१. देशविधिकथा– विभिन्न देशों में प्रचलित भोजन आदि बनाने के प्रकारों या कानूनों की कथा करना।

२. देशविकल्पकथा– विभिन्न देशों में अनाज की उपज, परकोटे, कुएं आदि की कथा करना।

३. देशच्छंदकथा– विभिन्न देशों के विवाह आदि से संबंधित रीति-रिवाजों की कथा करना।

४. देशनेपथ्यकथा–विभिन्न देशों के पहनावे की कथा करना।

राजकथा– राजा के विषय में चर्चा करना। राजकथा के चार प्रकार हैं–

१. राजा के अतियान–नगर आदि के प्रवेश की कथा करना।

२. राजा के निर्याण– निष्क्रमण की कथा करना।

३. राजा की सेना और वाहनों की कथा करना।

४. राजा के कोश और कोष्ठागार– अनाज के कोठों की कथा करना।[4]

ठाणं ७/८० में सात प्रकार की विकथाओं का वर्णन मिलता है। वे ये हैं–

१. स्त्रीकथा।

२. भक्तकथा।

३. देशकथा।

५. राजकथा।

६. मृदुकारुणिकी–वियोग के समय करुणरस प्रधान वार्ता।

७. दर्शनभेदिनी–सम्यक्दर्शन का विनाश करने वाली वार्ता।

८. चारित्रभेदिनी–चारित्र का विनाश करने वाली वार्ता।

निशीथभाष्य में विकथाओं से होने वाले दोषों का वर्णन मिलता है–

स्त्रीकथा से होने वाले दोष–

१. स्वयं के मोह की उदीरणा।

२. दूसरों के मोह की उदीरणा।

---

१. (क) ठाणं ४/५७८-५८२।

(ख) आ.चू. (द्वि) पृ. ८०–

आहारसण्णा नाम आहाराभिलाससंज्ञानं, आहाररागसंवेदनमित्यर्थः तीए चत्तारि उदयहेतुणो 'चउहिं ठाणेहिं आहारसण्णा समुप्पज्जति ओमकोट्ठताए छुहावेदणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं मतीए तदट्ठोवयोगेणं तत्थ मती सोतुं दट्ठुं आघातुं रसेणं फासेण वा भवति, तदट्ठोवयोगेणं आहारं चिंतेति, सुत्तत्थतदुभएहिं वा अप्पाणं वावडं न करेतित्ति, भयसण्णा नाम भयाभिनिवेसा भयमोहोदयसंवेदनमित्यर्थः, तीए चत्तारि हेतुणो-चउहिं ठाणेहिं भयसण्णा उप्पज्जति हीणसत्तयाए भयमोहणिज्ज-उदएणं, मतीए तदट्ठोवयोगताए तहेव मेहुणसण्णाणाम स्त्र्याद्यभिलाषसंज्ञानं, वेदमोहोदयसंवेदनमित्यर्थः, तीए चत्तारि हेतू–चउहिं ठाणेहिं मेहुणसण्णा समुप्पज्जति चितमंससोणितयाए वेदमोहणिज्जोदएणं मतीए तदट्ठोवयोगेणं तहेव, परिग्गहसण्णा णाम परिग्गहाभिलाससण्णाणं, परिग्गहरागसंवेदणमित्यर्थः, तीसे हेतूणो-अविवित्तताए लोभोदएणं मतीए तदट्ठोवयोगेणं।

२. आचारांग निर्युक्ति गा. ३९

३. (क) स्थानांगवृत्ति, पत्र १९९– विरुद्धा संयमबाधकत्वेन कथा–वचन-पद्धतिर्विकथा।

(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ६०–विरुद्धा विनष्टा वा कथा विकथा।

४. (क) ठाणं, ४/२४१-२४५

(ख) आ.चू. (द्वि) पृ. ६०, ६१

(ग) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ६१

३. जनता में अपवाद।
४. सूत्र और अर्थ के अध्ययन की हानि।
५. ब्रह्मचर्य की अगुप्ति।
६. स्त्री प्रसंग की संभावना।[1]

भक्तकथा से होने वाले दोष–
१. आहार संबंधी आसक्ति।
२. अजितेन्द्रियता।
३. औदरिकवाद– लोगों द्वारा पेटु कहलाना।[2]

देशकथा से होने वाले दोष–
१. राग-द्वेष की उत्पत्ति।
२. स्वपक्ष और परपक्ष संबंधी कलह।
३. उसके द्वारा कृत प्रशंसा से आकृष्ट होकर दूसरों का उस देश में जाना।[3]

राजकथा से होने वाले दोष–
१. गुप्तचर, चोर आदि होने की आशंका।
२. भुक्तभोगी अथवा अभुक्तभोगी का प्रव्रज्या से पलायन।
३. आशंसा प्रयोग– राजा आदि बनने की आकांक्षा।[4]

इन विकथाओं में अनुरक्त रहने वाले निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के अतिशायी ज्ञान और दर्शन तत्काल उत्पन्न होते होते रुक जाते है।[5]

जिस प्रकार चार प्रकार की विकथा है, उसी प्रकार चार प्रकार की कथा है। **कथा-विकथा आदि के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य ठाणं ४/२४१-२५० तथा उनके टिप्पण।**

11. ध्यानों से (झाणेहिं)

चेतना के दो प्रकार हैं– चल और स्थिर। चल चेतना को चित्त और स्थिर चेतना को ध्यान कहा जाता है।[6] अथवा एक आलंबन पर योगों– मन, वचन, काया को स्थिर करना ध्यान है।[7]

एक वस्तु में चित्त का एकाग्रतात्मक ध्यान अंतर्मुहूर्त्त मात्र का होता है। फिर वह ध्यान धारा भिन्न पर्याय में परिवर्तित हो जाती है। केवली के योग निरोधात्मक ध्यान होता है।[8]

ध्यान चार प्रकार का है–
१. आर्त्त ध्यान ३. धर्मध्यान
२. रौद्रध्यान ४. शुक्लध्यान।

१. आर्त्तध्यान– चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र-परिणति को 'आर्त्तध्यान' कहा जाता है।

वह चार प्रकार का है–

१. अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (अमनोज्ञ विषय) के वियोग की चिन्ता में लीन हो जाना।

२. मनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उस (मनोज्ञ विषय) के वियोग न होने की चिन्ता में लीन हो जाना।

३. आतंक (सद्योघाती रोग) के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग की चिन्ता में लीन हो जाना, ४. प्रीतिकर कामभोग के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग न होने की चिन्ता में लीन हो जाना।[9]

आर्त्तध्यान के चार लक्षण हैं–
१. आक्रन्दन करना। ३. आंसू बहाना।
२. शोक करना। ४. विलाप करना।[10]

आर्त्तध्यानयुक्त व्यक्ति मरकर तिर्यञ्च गति में जाता है।[11]

२. रौद्र ध्यान– चेतना की क्रूरतामय एकाग्र-परिणति को रौद्रध्यान कहा जाता है।

उसके चार प्रकार हैं–

१. हिंसानुबन्धी– जिसमें हिंसा का अनुबन्ध (सतत प्रवर्तन) हो।

२. मृषानुबन्धी– जिसमें मृषा का अनुबंध हो।

३. स्तेयानुबन्धी– जिसमें चोरी का अनुबन्ध हो।

४. संरक्षणानुबन्धी– जिसमें विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबन्ध हो।[12]

---

१. निशीथभाष्य, गाथा १२१–
आय-पर-मोहुदीरणमुड्डाहो सुत्तमादिपरिहाणी।
बंभव्वते अगुत्ती, पसंगदोसा य गमणादी।।

२. वही, गाथा १२४–
आहारमंतरेण वि, गहितो जायते सइंगालं।
अजितिंदिय ओदरिया, वातो व अणुण्णदोसा तु।।

३. वही, गाथा १२७–
रागद्दोसुप्पत्ती, सपक्ख-परपक्खतो उ अधिकरणं।
बहुगुण इमो त्ति देसो, सोउं गमणं च अण्णेसिं।।

४. वही, गाथा १३०–
चारियचोराभिमरा, हित-मारित-संक कातु कामा वा।
भुत्ताभुत्तोहावण, करेज्ज वासंसपायोगं।।

५. ठाणं, ४/२५४– चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि अतिसेसे णाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे वि ण समुप्पज्जेज्जा, तं जहा–अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थि कहं भत्तकहं देसकहं रायकहं कहेत्ता भवति।

६. ध्यानशतक गा., २–जं थिरमज्झवसाणं झाणं, जं चलं तयं चित्तं।

७. आ.चू. (द्वि) पृ. ८१– जीवस्स एगग्गे जोगाभिनिवेसो झाणं।

८. ध्यानशतक गा. ३
अंतोमुहुत्तमेत्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छउमत्थाणं झाणं, जोगनिरोहो जिणाणं तु।।

९. वही, गा. ६-९

१०. वही, गा. १५

११. आ.चू. (द्वि), पृ. ८३– अट्टं झाणं झियायंतो, तिरिक्खत्ते निगच्छति।

१२. ध्यानशतक गा. १९-२२

रौद्रध्यान के चार लक्षण हैं–

१. उत्सन्न दोष– प्राय: हिंसा आदि में प्रवृत्त रहना।

२. बहुलदोष– हिंसादि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना।

३. अज्ञानदोष– अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना।

४. आमरणान्त दोष– मरणान्त तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।[1]

आमरणान्त दोष पर 'कालसौकरिक' का दृष्टान्त ज्ञातव्य है।

रौद्रध्यानयुक्त व्यक्ति मरकर नरक में उत्पन्न होता है।[2]

३. धर्मध्यान– वस्तु धर्म या सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता को 'धर्मध्यान' कहा जाता है।

उसके चार प्रकार हैं–

१. आज्ञाविचय– प्रवचन के निर्णय में संलग्न चित्त।

२. अपायविचय– आस्रव आदि क्रियाओं में प्रवर्तमान व्यक्तियों के इहलोक और परलोक के अपायों (दोषों) का चिन्तन करना। दोषों के निर्णय में संलग्न चित्त।

३. विपाकविचय– कर्मफलों के निर्णय में संलग्न चित्त।

४. संस्थानविचय– विविध पदार्थों के आकृति-निर्णय में संलग्न चित्त।[3]

धर्मध्यान के चार लक्षण हैं–

१. आगमरुचि–प्रवचन में श्रद्धा होना।

२. उपदेशरुचि–उपदेश से प्रवचन में श्रद्धा होना।

३. आज्ञारुचि–तीर्थंकर की आज्ञा की प्रशंसा करना।

४. निसर्गरुचि–स्वभाव से ही जिनप्रवचन में श्रद्धा होना।[4]

धर्मध्यान के चार आलम्बन हैं–

१. वाचना– पढ़ाना।

२. प्रतिप्रच्छना– शंका निवारण के लिए प्रश्न करना।

३. परिवर्तना– पुनरावर्तन करना।

४. अनुप्रेक्षा– अर्थ का चिन्तन करना।[5]

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं–

१. एकत्व अनुप्रेक्षा– अकेलेपन का चिन्तन करना।

२. अनित्य अनुप्रेक्षा– पदार्थों की अनित्यता का चिन्तन करना।

३. अशरण अनुप्रेक्षा– अशरण दशा का चिन्तन करना।

४. संसार अनुप्रेक्षा– संसार-परिभ्रमण का चिन्तन करना।[6]

धर्मध्यानयुक्त व्यक्ति मरकर देवलोक में जाता है।[7]

शुक्लध्यान– चेतना की सहज (उपाधि रहित) परिणति को 'शुक्ल ध्यान' कहा जाता है।

उसके चार प्रकार हैं–

१. पृथकत्ववितर्कसविचारी।

२. एकत्व-वितर्क अविचारी।

३. सूक्ष्मक्रियअनिवृत्ति।

४. समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाति।[8]

शुक्लध्यान के चार लक्षण हैं–

१. अव्यथ– क्षोभ का अभाव।

२. असम्मोह– सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढता का अभाव।

३. विवेक– शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान।

४. व्युत्सर्ग– शरीर और उपधि में अनासक्त भाव।[9]

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं–

१. क्षान्ति– क्षमा। ३. आर्जव– सरलता।

२. मुक्ति– निर्लोभता। ४. मार्दव– मृदुता।[10]

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं–

१. अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा– संसार परम्परा का चिन्तन करना।

२. विपरिणाम अनुप्रेक्षा– वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन करना।

३. अशुभअनुप्रेक्षा– पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना।

४. अपाय अनुप्रेक्षा– दोषों का चिन्तन करना।[11]

शुक्लध्यान के प्रथम और दूसरे प्रकार में लीन व्यक्ति मरकर अनुत्तरोपपातिक देवों में उत्पन्न होता है तथा तीसरे और चौथे प्रकार में लीन व्यक्ति मरकर सर्व कर्मों से मुक्त सिद्ध बनता है।[12]

ध्यान के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य ठाणं ४/६०-७२ तथा टिप्पण एवं श्रीभिक्षु आगम विषय कोश शब्द ध्यान।

12. क्रियाओं से (किरियाहिं)

क्रिया के पांच प्रकार हैं–

१. कायिकी ४. पारितापनिकी

२. अधिकरणिकी ५. प्राणातिपात क्रिया।

३. प्राद्वेषिकी

---

१. ध्यानशतक गा. २६

२. आ.चू (द्वि), पृ. ८४– नरगंमि य उववत्ती रोद्दज्झाणाउ जीवस्स।

३. ध्यानशतक गा. ४५,५०,५१,५२

४. वही, गा. ६७

५. वही, गा. ४२

६. दश. अ. चू. पृ. १८–अणुपेहाओ, तं जहा– अणिच्चाणुप्पेहा, असरणाणुप्पेहा, एगत्ताणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा।

७. ध्यानशतक गा. पृ. ८५– धम्मझाणं झियायंतो, देवयत्तं निगच्छती

८. वही, गा. ७७-८२

९. वही, गा. ९०-९२

१०. वही, गा. ६९

११. वही, गा. ८७,८८

१२. आ.चू (द्वि.), पृ. ८६–
अणुत्तरेहिं देवेहिं, पढमबीएहिं गच्छती।
उवरिल्लेहिं झाणेहिं, सिज्झती निरयो धुवं।।

१. कायिकी– शरीर के द्वारा होने वाली क्रिया। वह तीन प्रकार की है[१]–

(१) अविरतकायिकी– मिथ्यादृष्टि तथा अविरत सम्यग्दृष्टि व्यक्ति के होने वाली क्रिया।

(२) दुष्प्रणिहित कायिकी– प्रमत्त संयत के होने वाली क्रिया। वह दो प्रकार की है[२]–

(क) इन्द्रियदुष्प्रणिहित कायिकी– इन्द्रियों के दुष्प्रणिधान से होने वाली क्रिया।

(ख) नो इन्द्रियदुष्प्रणिहित-कायिकी– मन के दुष्प्रणिधान से होने वाली क्रिया।

(३) उपरतकायिकी– यह सावद्य योग से निवृत्त अप्रमत्तसंयत के होती है।

२. अधिकरणिकी– वह क्रिया जिस अनुष्ठान से आत्मा नरक आदि में जाती है। वह दो प्रकार की है–

(१) अधिकरणप्रवर्तिनी– चक्रमह, पशुबंध आदि के द्वारा जो क्रिया होती है, वह अधिकरणप्रवर्तिनी है।

(२) निर्वर्तिनी– खड्ग आदि के द्वारा जो क्रिया होती है, वह निर्वर्तिनी है।[३]

३. प्राद्वेषिकी– प्रद्वेष (मत्सर) से होने वाली क्रिया। वह दो प्रकार की है–

(१) जीवप्राद्वेषिकी– जीव के प्रति द्वेष करने से होने वाली क्रिया।

(२) अजीवप्राद्वेषिकी– अजीव के प्रति द्वेष करने से होने वाली क्रिया। पाषाण आदि के गिर जाने से उसके प्रति द्वेष करने से अजीवप्राद्वेषिकी क्रिया का बंध होता है।[४]

आवश्यक चूर्णि में प्राद्वेषिकी क्रिया के तीन भेद भी किये गए हैं– मनप्राद्वेषिकी, वचनप्राद्वेषिकी और कायप्राद्वेषिकी। इन तीनों के दो-दो प्रकार हैं– निदा और अनिदा। निदा का अर्थ है– प्रयोजन और अनिदा का अर्थ है– निष्प्रयोजन।[५]

पारितापनिकी– पारितापन का अर्थ है– ताडना, भर्त्सना आदि से होने वाला दु:खविशेष। इससे होने वाली क्रिया पारितापनिकी क्रिया है। वह दो प्रकार की है– स्वदेहपारितापनिकी और परदेह-पारितापनिकी। अथवा स्वहस्तपारितापनिकी और परहस्त-पारितापनिकी।[६] इन दोनों के दो-दो प्रकार हैं– प्रयोजनवश की जाने वाली तथा निष्प्रयोजन ही जाने वाली।

प्राणातिपातक्रिया– प्राणों का अतिपात (विनाश) करने से होने वाली क्रिया। वह दो प्रकार की है–

(१) स्वप्राणातिपातक्रिया– संसार अथवा कुटुम्ब से उदासीन होकर अथवा स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए पर्वत आदि से गिरकर अपने प्राणों का विनाश करना।

(२) परप्राणातिपातक्रिया– क्रोध, मान, माया, लोभ और मोहवश दूसरों के प्राणों का व्यापादन करना। कोई व्यक्ति दूसरे पर क्रोध से प्रहार कर उसे मार डालता है। कोई अपमानित कर उसकी हत्या कर डालता है, कोई माया से पर को विश्वास में लेकर उसकी घात कर देता है, कोई सौकरिक कसाई की भांति लोभ के वशीभूत होकर प्राणियों की घात करता है, कोई मोहवश, जैसे– यज्ञ, याग से मुक्ति मिलती है, इस धारणा से पशुबलि को प्रश्रय देकर प्राणिवध करता है।[७]

क्रिया के भेद-प्रभेद एवं विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य ठाणं २/२-३७ के सूत्र तथा टिप्पण।

13. काम-गुणों से (कामगुणेहिं)

जिसकी कामना की जाती है वह काम है तथा जिससे बंधा

---

१. आ.चू. (द्वि.) पृ. ८७–काइका तिविधा–अविरतकाइया दुप्पणिधिकाइया उवरतकाइया, तत्थ अविरतकाइया असंजतस्स, वा सावगस्स वा, दुप्पणिधितकाइया पमत्तसंजतस्स, उवरयकाइया अप्पमत्तस्स सकसाया-कसायस्स।।

२. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ८१– सा पुनर्द्विधा-इन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी नोइन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी य,.....

३. वही, (द्वि) पृ. ८१– अधिक्रियत आत्मा नरकादिषु येन तदधिकरणम्– अनुष्ठानं बाह्यं वा वस्तु चक्रमहादि तेन निर्वृत्ता– आधिकरणिकी तया, सा पुनर्द्विधा– अधिकरणप्रवर्तिनीनिर्वर्तिनी च। तत्र प्रवर्तिनी चक्रमह:पशुबन्धादि प्रवर्तिनी, निर्वर्तिनी खड्गादिनिर्वर्तिनी।

४. वही, पृ. ८१– प्रद्वेष:– मत्सरस्तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी, असावपि द्विधा–जीवप्राद्वेषिक्यजीवप्रद्वेषिकी च। आद्या जीवे प्रद्वेषं गच्छत:, द्वितीया पुनरजीवे, तथाहि–पाषाणादौ प्रस्खलितस्तत्-प्रद्वेषमावहति।

५. आ.चू. (द्वि) पृ. ८७– णिदाए अट्ठाए अणिदाए अणट्ठाए।

६. आ.हा.वृ (द्वि) पृ. ८१– परितापनं– ताडनादिदु:खविशेषलक्षणं तेन निर्वृत्ता पारितापनिकी तया, असावपि द्विधैव– स्वदेहपारितापनिकी परदेहपारितापनिकी च, आद्या स्वदेहे परितापनं कुर्वतो द्वितीया परदेहे परितापनमिति, तथा च अन्यरुष्टोऽपि स्वदेहपरितापनं करोत्येव कश्चिज्जड:, अथवा स्वहस्तपारितापनिकी परहस्तपारितापनिकी च, आद्या स्वहस्तेन परितापनं कुर्वत: द्वितीया परहस्तेन कारयत:।

७. आ.चू. (द्वि) पृ. ८९– प्राणातिपातक्रिया द्विविधा– स्वदेहव्यपरोपणप्राणातिपातक्रिया, परदेह: तत्र स्वदेहव्यपरोपण-क्रिया यत् स्वर्गहेतो: देहं परित्यजति गिरिशिखरे, प्रज्वलितं वा हुतवहं प्रविशति, अंभसि वाऽत्मानं परित्यजति, आयुधेन वा स्वदेहं विनाशयति, परदेहव्यपरोपणक्रिया अनेकविधा, तद्यथा– क्रोधाविष्ट: एवं मानमायालोभमोहा क्रोधेन रुष्टो मारयति, एवं मानेन मत्तो मायया विश्वासेन लोभेन लुब्ध: शौकरिकवत् मोहेन मूढ: संसारमोचकवत्, ये चान्ये धर्मनिमित्तं प्राणिनो व्यापादयंति।

जाता है, वह गुण है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये काम हैं। इनकी आसक्ति से जीव कर्मों से बंधता है, अत: ये गुण भी हैं।[1]

समवायांग की वृत्ति में 'काम' का अर्थ अभिलाषा और गुण का अर्थ शब्द आदि पुद्गल किया है। वैकल्पिक रूप में कामवासना को उत्तेजित करने वाले शब्द आदि को कामगुण माना है।[2]

स्थानांग वृत्ति में काम का अर्थ है– अभिलाषा और गुण का अर्थ है– पुद्गल के धर्म। कामगुण के दो अर्थ हैं– १. मैथुन-इच्छा उत्पन्न करने वाले पुद्गल। २. इच्छा उत्पन्न करने वाले पुद्गल।[3]

दशवैकालिक निर्युक्ति में काम के दो प्रकार बतलाए हैं– द्रव्यकाम और भावकाम।[4] भावकाम के दो प्रकार हैं–

१. इच्छा काम– इच्छा अर्थात् एषणा–चित्त की अभिलाषा। अभिलाषा रूप काम को इच्छा काम कहते हैं।

२. मदन काम– काम का आसेवन, वेदोपयोग। स्त्रीवेदोदय से स्त्री का पुरुष की अभिलाषा करना अथवा पुरुष वेदोदय से पुरुष का स्त्री की अभिलाषा तथा विषय भोग में प्रवृत्ति करना मदनकाम है।[5]

14. पांच महाव्रतों से (पंचहिं महव्वएहिं)

१. प्राणातिपात विरमण– जीव हिंसा से विरति।

२. मृषावाद विरमण– असत्य वचन से विरति।

३. अदत्तादान विरमण– अननुज्ञात से विरति।

४. मैथुन विरमण– अब्रह्मचर्य से विरति।

५. परिग्रह विरमण– परिग्रह से विरति।

भरत और ऐरवत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर पांच महाव्रतों का तथा शेष बाईस तीर्थंकर चातुर्याम धर्म का उपदेश देते हैं। वह इस प्रकार है–

(१) सर्व प्राणातिपात से विरमण।

(२) सर्व मृषावाद से विरमण।

(३) सर्व अदत्तादान से विरमण।

(४) सर्व बाह्य-आदान से विरमण।[6]

इसमें मैथुन विरमण तथा परिग्रह विरमण का संयुक्त रूप में ग्रहण किया गया है। सब महाविदेह क्षेत्रों में अर्हन्त भगवान् चातुर्याम धर्म का निरूपण करते हैं।[7]

महाव्रतों के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– दशवैकालिक ४/११ से १५ तथा उससे संबंधित टिप्पण।

15. पांच समितियों से (पंचहिं समिईहिं)

समिति का अर्थ है– सम्यक् प्रवर्तन। सम्यक् और असम्यक् का मापदंड है– अहिंसा। जो प्रवृत्ति अहिंसा से संवलित है, वह समिति है।

आवश्यक के वृत्तिकार हरिभद्रसूरि के अनुसार एकाग्र परिणाम से की जाने वाली प्रवृत्ति को समिति कहा जाता है।[8] समितियां पांच हैं–

१. ईर्या समिति– गमन और आगमन में अहिंसा का विवेक। इसकी भावना यह है कि यान-वाहनों से आकीर्ण पथ पर तथा शून्य और प्रासुक मार्गों पर चलते समय भी मुनि युगप्रमित भूमि को देखकर चलें।

२. भाषा समिति– भाषा संबंधी अहिंसा का विवेक। इसका तात्पर्य यह है कि मुनि हितकारी, परिमित और असंदिग्ध अर्थ वाली अर्थात् स्पष्ट भाषा बोले।

३. एषणा समिति– जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक उपकरणों– आहार-वस्त्रों आदि के ग्रहण और उपभोग संबंधी अहिंसा का विवेक। भिक्षाचर्या के लिए गया हुआ मुनि सम्यग् उपयोग रखता हुआ नवकोटि परिशुद्ध भिक्षा की एषणा करे, ग्रहण करे।

४. आदानभाण्डमत्रनिक्षेपणा समिति– दैनिक व्यवहार में आने वाले पदार्थों के व्यवहार संबंधी अहिंसा का विवेक। उपकरण तथा पात्र आदि लेते समय सावधानी पूर्वक प्रवर्तन करना।

५. उच्चारप्रस्रवणखेलसिंघाणजल्लपरिस्थापनिका समिति– उत्सर्ग संबंधी अहिंसा का विवेक। मल, मूत्र, कफ, श्लेष्म, मैल आदि के परिस्थापन में संयत चेष्टा करना।

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ८४– तत्र काम्यन्त इति कामा:– शब्दादयस्त एव स्वस्वरूपगुणबन्धहेतुत्वाद् गुणा इति, तथाहि– शब्दाद्यासक्त: कर्मणा बद्धत इति।

२. समवायांगवृत्ति, पत्र १०– काम्यन्ते– अभिलष्यन्ते इति कामास्ते च ते गुणाश्च– पुद्गलधर्मा: शब्दादया इति कामगुणा:, कामस्य वा मदनस्योद्दीपका गुणा:– कामगुणा: शब्दादय इति।

३. स्थानांगवृत्ति, पत्र २७७– कामगुण'त्ति कामस्य– मदनाभिलाषस्य अभिलाषमात्रस्य वा संपादका: गुणा– धर्मा: पुद्गलानां, काम्यन्त इति कामा: ते च गुणाश्चेति वा कामगुणा इति।

४. दश.नि. गा. १६२– दुविहा य भावकामा, इच्छाकामा य मयणकामा।

५. वही, गा. १६२,१६३, हा.टी., पृ. ८५-८६– तत्रैषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा। मयणंमि वेयउवओगो। मदयतीति तथा मदन: चित्रो मोहोदय: स एव कामप्रवृत्ति–हेतुत्वात्वात्कामा मदनकामा....वेद्यत इति वेद:–स्त्रीवेदादिस्तदुपयोग:–तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इति....

६. ठाणं, ४/१३६– भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति, तं जहा– सव्वाओ पाणातिवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं।

७. ठाणं, ४/१३७– सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति, तं जहा.....।

८. आ.हा.वृ (द्वि) पृ. ८४– सम्– एकीभावेनेति समिति:, शोभनैकाग्रपरिणामचेष्टेत्यर्थ:।

ठाणं ८/१७ में आठ समितियों का उल्लेख है– पांच समितियां, मन:समिति, वचनसमिति तथा कायसमिति। उत्तराध्ययन २४/२ में पांच समितियों के साथ तीन गुप्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। मन, वचन और काया का निरोध भी होता है और सम्यक् प्रवर्तन भी। उत्तराध्ययन में जहां इनको 'गुप्ति' कहा है वहां इनके निरोध की अपेक्षा की गई है और ठाणं में इनके सम्यक् प्रवर्तन के कारण इनको समिति कहा है।

पांच समिति के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य उत्तराध्ययन अध्ययन २४।

वृत्तिकार और चूर्णिकार ने पांच समितियों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं[१]–

ईर्या समिति

एक मुनि ईर्या समिति में तल्लीन होकर मार्ग में चल रहा था। शक्र ने देवसभा में उसकी प्रशंसा की। एक देव को उस कथन पर विश्वास नहीं हुआ। वह मुनि की परीक्षा करने आया और पूरे मार्ग में मक्षिकाप्रमाण वाली मेंढकियों की विकुर्वणा की। पूरा मार्ग मेंढकीमय हो गया। मुनि पूर्ण सावचेती से चल रहे थे। इतने में ही पीछे से एक मदोन्मत्त हाथी आता-सा प्रतीत हुआ। मुनि ने अपनी गति नहीं बदली। वह ईर्यासमिति में जागरूक रहता हुआ चल रहा था। हाथी आया और सूंड से मुनि को उठा आकाश में उछाल दिया। मुनि ने तब भी सोचा– मैं नीचे गिरूंगा। मुझे अपने शरीर की चिंता नहीं है। प्राणीवध होगा– यह मुझे चिन्ता है।

भाषा समिति

एक गांव पर शत्रुसेना ने आक्रमण कर दिया। मुनि भिक्षा के लिए घूमते-घूमते सैनिकों की छावनी की ओर चला गया। एक सिपाही ने पूछा– मुने! शत्रु राजा के पास कितनी सेना है? धन तथा अन्य सामग्री का कितना संचय है? नागरिकों की क्या स्थिति है? मुनि बोला– इन सबका हमें क्या पता? हम तो स्वाध्याय योग और ध्यानयोग में तल्लीन रहते हैं। तब सैनिक बोला–क्या घूमते हुए कुछ नहीं देखते? कुछ नहीं सुनते? यह कैसे संभव हो सकता है? तब मुनि बोला–'भगवान् ने हमें अनुशासना देते हुए कहा है–साधु बहुत कुछ देखता है, सुनता है पर उसका यह विवेक है कि वह सब कुछ देखा हुआ या सुना हुआ दूसरों को न कहें।[२]

एषणा समिति

मगध जनपद में सालिग्राम नाम के नगर में गृहपति का पुत्र नंदीसेन रहता था। जब वह गर्भ में था तब पिता का देहावसान हो गया और जब वह छह महीने का हुआ तब माता मृत्यु की ग्रास बन गई। मामा ने उसका पालन-पोषण किया। एक बार वहां नंदीवर्धन अनगार का आगमन हुआ। नंदीसेन उनके पास प्रव्रजित हुआ। उसने प्रव्रजित होते ही बेले-बेले की तपस्या प्रारम्भ कर दी तथा यह अभिग्रह धारण कर लिया कि मैं जीवनभर वैयावृत्य करूंगा। वह अग्लानभाव से सेवा करने लगा। रुग्ण मुनि को जो आवश्यक होता, वह वस्तु ला देता। दो देव उसकी परीक्षा करना चाहते थे। उन्होंने मुनि का रूप बनाया। एक बार मुनि नंदीसेन अपनी बेले की तपस्या का पारणक करने बैठा। उसने एक कवल लिया होगा, इतने में एक देव वहां आकर बोला– हम दो मुनि हैं। एक मुनि तृषा से अत्यंत आकुल-व्याकुल हो रहा है। वह बाहर अटवी में स्थित है। कोई वैयावृत्यकर मुनि हो तो वहां चले। नंदीसेन मुनि अपना कवल नीचे रख उस मुनि के साथ चल पड़ा। वह अटवीस्थ मुनि तृषाकुल है, इसलिए पानी की खोज की। खोज करने के पश्चात् भी पानी प्राप्त नहीं हुआ। दूसरी बार, तीसरी बार खोज करने पर एक घर में प्रासुक एषणीय पानी मिला। उसे लेकर वह अटवी में गया। रुग्ण मुनि ने विलम्ब के कारण आक्रोश करते हुए कहा– अब तो चल मुझे पीठ पर लादकर उपाश्रय में। नंदीसेन ने उसे पीठ पर लादा। वह रुग्ण मुनि पीठ पर ही मल-मूत्र विसर्जित करने लगा। पैर ऊंचा-नीचा पड़ते ही पीठ पर लदा मुनि परुष भाषा में अंट-संट बोलता। नंदीसेन मुनि समभाव से सहन करता हुआ, अशुचि के प्रति घृणा न करता हुआ, मुनि को उपाश्रय ले आया।

देव मुनियों ने नंदीसेन की दृढ़ता, समता, एषणा और जागरूकता की प्रशंसा की और अपना दिव्यरूप प्रकट कर स्वस्थान में चले गए।

आदान-निक्षेप समिति

आचार्य के पास एक श्रेष्ठीपुत्र प्रव्रजित हुआ। वह पांच सौ साधुओं के उस संघ में सबसे छोटा था। पांच सौ साधुओं में से कोई भी आता, वह शैक्षमुनि उनके दंड को ग्रहण कर, भूमि का प्रमार्जन कर उसे रखता। इस प्रकार कोई मुनि आता और कोई बाहर जाता। वह सभी के दंड लेकर व्यवस्थित रखता एवं व्यवस्थित देता। वह ध्यानपूर्वक अचपल और अत्वरित होकर वह क्रिया विधिवत् करता। बहुत समय बीत जाने पर भी वह परिक्लान्त नहीं हुआ। यह आदान-निक्षेप समिति के प्रति उसकी जागरूकता थी।

उत्सर्ग समिति

उच्चार प्रस्रवण की चौबीस भूमियां और तीन काल भूमियां हैं। एक मुनि ने यह सोचकर कि क्या परिष्ठापनभूमी में ऊंट बैठे रहते हैं, उनका प्रतिलेखन नहीं किया। रात्री में प्रस्रवण की बाधा हुई, वह प्रथम भूमी में गया। वहां ऊंट बैठा हुआ था। दूसरी और तीसरी भूमी में भी ऊंट बैठा हुआ मिला। उसने तब ऊंट को वहां से

---

१. (क) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ८४, ८५
(ख) आ.चू. (द्वि) पृ. ९३-९६

२. दशवैकालिक ८/२०
बहुं सुणेइ कण्णेहिं, बहु अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ।।

उठाया। देव ने प्रतिबोध देते हुए कहा–अरे! तुम सत्ताईस भूमियों की प्रतिलेखना क्यों नहीं करते? मुनि को भूल का भान हुआ।

16. छह लेश्याओं से (छहिं लेसाहिं)

जिन शुभ-अशुभ आत्मपरिणामों से आत्मा कर्मों से आश्लिष्ट होती है उनको लेश्या कहा जाता है। वे छह हैं– कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या, शुक्ल लेश्या। ये उत्तरोत्तर शुभ परिणामों से संबंधित हैं।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते हैं। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं। उनमें एक वर्ग का नाम 'लेश्या' है। लेश्या शब्द का अर्थ है– आणविक आभा, कान्ति, प्रभा या छाया।[1] छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव परिणामों को भी लेश्या कहा गया है।[2] प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक आभा और उससे प्रभावित होने वाले विचार– इन तीनों अर्थों में लेश्या की मार्गणा की गई है। शरीर के वर्ण और आणविक आभा को द्रव्य लेश्या[3] (पौद्गलिक लेश्या) तथा भाव और विचार को भावलेश्या (मानसिक लेश्या) कहा गया है।[4]

कर्मजनित आत्मपरिणामों की शुद्धि एवं अशुद्धि के आधार पर अनन्त तरतमताएं होती हैं। इनको संक्षेप में छह विभागों में बांटा गया है। ये ही छह लेश्याएं हैं। पहली तीन अधर्म लेश्याएं और शेष तीन धर्म लेश्याएं हैं। लेश्याओं के नाम द्रव्य लेश्याओं के आधार पर रखे गए हैं।

आधुनिक खोजों के आधार पर जो रंग चिकित्सा का प्रवर्तन हुआ है, उसका मूल लेश्याध्यान में खोजा जा सकता है। लेश्याध्यान व्यक्तित्व के रूपान्तरण का घटक है और इसी स्तर पर रूपान्तरण हो सकता है। प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया का यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है।

लेश्या के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन ३४ तथा उसका आमुख।

चूर्णिकार ने लेश्याओं को समझाने के लिए दो दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं।[5]

जम्बूखादक का दृष्टान्त

छह व्यक्ति ग्रामान्तर जा रहे थे। उन्होंने मार्ग में जामुन का एक विशाल वृक्ष देखा। वह जामुन के फलों से लदा था। उसे देख सभी जामुन खाने ललचाए। एक व्यक्ति बोला– इस पेड़ को जड़ से काट दो। फिर हम सब मिलकर भरपेट जामुन खाएंगे। दूसरे ने कहा– वृक्ष को काटने से क्या? बड़ी-बड़ी शाखाओं को काट लेना चाहिए। तीसरे ने कहा– शाखाओं को नहीं प्रशाखाओं को काटना चाहिए। चौथा बोला– जामुन के केवल गुच्छों को तोड़ डालो। पांचवा बोला– काटने से क्या, हम वृक्ष पर चढ़कर जितना खाना चाहें उतना खा लें। छठा बोला– यह सारा झंझट छोड़ो। देखो, पके हुए जामुन फल नीचे बिखरे पड़े हैं। उन्हें खाकर संतोष करो।

ग्रामवध का दृष्टान्त

छह चोर गांव को लूटने के लिए निकले। एक बोला– उस गांव के समस्त प्राणियों को मार डालें। दूसरा बोला– पशुओं को क्यों मारें, केवल स्त्री-पुरुषों को ही मारें। तीसरा बोला– केवल पुरुषों का ही वध करें। चौथा बोला– जो सशस्त्र हों उन्हें ही मारें। पांचवा बोला– जो हमारा सामना करें, उन्हें मौत के घाट उतारें। छठा बोला– हम किसी को क्यों मारें? हमें तो केवल उनकी संपत्ति का ही हरण करना है।

इस दृष्टान्तों में छहों व्यक्तियों के परिणामों का चित्रण है। इन परिणामों को हम क्रमशः छह लेश्याओं में बांट सकते हैं। प्रथम व्यक्ति का परिणाम कृष्ण लेश्या से अनुप्राणित था और क्रमशः छठे व्यक्ति का परिणाम शुक्ल लेश्या से।

17. सातों भय स्थानों से (सत्तहिं भयट्ठाणेहिं)

मोहनीय कर्म की प्रकृति से उत्पन्न आत्मा का एक परिणाम है– भय। उसके सात स्थान हैं[6]–

१. इहलोक भय– सजातीय से उत्पन्न होने वाला भय, जैसे– मनुष्य को मनुष्य से भय होना।

२. परलोक भय– विजातीय से उत्पन्न होने वाला भय, जैसे– मनुष्य को तिर्यंच, देवता आदि से होने वाला भय।

३. आदान भय– आदान का अर्थ है धन आदि ग्रहण योग्य वस्तु। धन आदि के अपहरण से होने वाला भय।

४. अकस्मात् भय– बिना किसी बाह्य निमित्त के अचानक होने वाला भय, जैसे– रात्रि के समय घर में बैठे हुए अचानक डर जाना।

५. आजीविका भय– आजीविका का भय होना, जैसे– मैं निर्धन हूं, दुर्भिक्ष आदि में अपना पोषण कैसे करूंगा।

६. मरण भय– मृत्यु का भय।

---

१. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति प. ६५०
लेश्येति–श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या–अतीव चक्षुराक्षपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।

२. मूलाराधना ७/१९०७
जह बाहिरलेस्साओ, किण्हादीओ हवंति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादी य पुरिसस्स।।

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति गा. ५३८

४. वही, गा. ५३९

५. आ.चू. (द्वि) पृ. ११३

६. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०४– तत्र भयं मोहनीयप्रकृतिसमुत्थं आत्मपरिणामस्तस्य स्थानानि–आश्रया भयस्थानानि इहलोकादीनि, तथा चाह संग्रहणिकारः– 'इहपरलोयादाणमकम्हा आजीवमरणमसिलोए' त्ति।

७. अश्लोक भय– अपयश का भय।[1]

ठाणं ७/२७ में सात प्रकार के भय उल्लिखित हैं। उनमें पांचवां प्रकार है– 'वेयणभए' वेदना का भय अर्थात् पीड़ा आदि से उत्पन्न भय। समवाय (७) में 'वेयणभए' के स्थान पर आजीवभय का उल्लेख है।

18. आठों मदस्थानों से (अट्ठहिं मयट्ठाणेहिं)

मद का अर्थ है– मान के उदय से होने वाला आत्मोत्कर्ष का परिणाम। उसके समासत: आठ स्थान हैं[2]–

१. जातिमद– जाति का अभिमान करना।

२. कुलमद– कुल का अभिमान करना।

३. बलमद– शक्ति का अभिमान करना।

४. रूपमद– रूप का अभिमान करना।

५. तपमद– तप का अभिमान करना।

६. ऐश्वर्यमद– ऐश्वर्य का अभिमान करना।

७. श्रुतमद– ज्ञान का अभिमान करना।

८. लाभमद– लाभ का अभिमान करना।

ठाणं ८/२१ तथा समवाय ८/१ में ये स्थान कुछ व्यत्यय से प्राप्त होते हैं। अंगुत्तरनिकाय में मद के तीन प्रकार तथा उनसे होने वाले अपायों का निर्देश है– १. यौवनमद, २. आरोग्यमद, ३. जीवनमद।

इनसे मत्त व्यक्ति शरीर, वाणी और मन से दुष्कर्म करता है। वह शिक्षा को त्याग देता है। उसकी दुर्गति और पतन होता है। वह मरकर नरक में जाता है।[3]

19. नवों ब्रह्मचर्य-गुप्तियों से (नवहिं बंभचेरगुत्तीहिं)

ब्रह्मचर्य की साधना के ये नौ साधन हैं। इनकी पूर्ण पालना से ही ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है–

१. ब्रह्मचारी स्त्री, पशु और नपुंसक से संयुक्त शय्या और आसन का सेवन नहीं करता।

२. वह स्त्री की कथा नहीं करता अथवा केवल स्त्रियों के बीच कथा नहीं करता।

३. वह स्त्रियों के निषद्या-स्थानों का सेवन नहीं करता।

४. वह स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को नहीं देखता और एकाग्रचित्त से उनका निरीक्षण नहीं करता।

५. वह प्रणीतरसभोजी नहीं होता।

६. वह पान-भोजन का अतिमात्र आहार नहीं करता।

७. वह पूर्व अवस्था में आचीर्ण भोग और क्रीड़ाओं का स्मरण नहीं करता।

८. वह शब्दानुपाती (शब्दों में आसक्त), रूपानुपाती, गन्धानुपाती, रसानुपाती, स्पर्शानुपाती और श्लोकानुपाती (श्लाघानुपाती) नहीं होता।

९. वह सात और सुख में प्रतिबद्ध नहीं रहता।

आचार्य हरिभद्र ने ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का एक प्राचीन गाथा के आधार पर निम्न प्रकार से उल्लेख किया है[4]–

वसहिकह निसिज्जिदिय कुड्डंतरपुव्वकीलियपणीए।
अइमायाहारविभूसणा य नव बंभचेरगुत्तीओ।।

१. ब्रह्मचारी स्त्री-पशु और नपुंसक से संसक्त वसति का सेवन न करे।

२. अकेली स्त्रियों में कथा न करे।

३. स्त्रियों की निषद्या (स्थान) का सेवन न करे। स्त्रियों के चले जाने पर (तत्काल) उस स्थान पर न बैठे।

४. स्त्रियों की इन्द्रियों को आसक्त दृष्टि से न देखे।

५. भींत आदि के छिद्रों से मैथुन-संसक्त स्त्रियों की क्वणित–ध्वनि को न सुने।

६. पूर्व अवस्था में आचीर्ण भोगों की स्मृति न करें।

७. प्रणीत (स्निग्ध, गरिष्ठ) भोजन न करे।

८. अतिमात्रा में आहार का उपभोग न करे।

९. विभूषा न करे।

स्थानांग (९/३) तथा समवायांग (९।१) में **'नव बंभचेर-गुत्तीओ'** तथा उत्तराध्ययन (अ. १६) में **'दस बंभचेरसमाहिट्ठाणं'** के अन्तर्गत ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। उत्तराध्ययन का पांचवां स्थान **'नो इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा, दूसंतरंसि वा, भित्तंतरंसि वा, कूइयसद्दं वा, रुइयसद्दं वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्दं वा, थणियसद्दं वा, कंदियसद्दं वा, विलवियसद्दं वा, सुणेत्ता हवइ से निग्गंथे।'**[5]

तथा नौवां स्थान **'नो विभूसणावाई हवइ, से निग्गंथे।'**[6] ये दो स्थान स्थानांग तथा समवायांग में प्राप्त नहीं हैं। वहां **'णो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवति'** तथा **'णो सद्दरूवरसगंध-फासाणुवाई हवइ'**[7]– ये दो स्थान प्राप्त होते हैं। उत्तराध्ययन का

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०४–इहपरलोय त्ति इहलोकभयं परलोकभयं, मा तत्र मनुष्यादिसजातीयादन्यस्मान्मनुष्यादेरेव सकाशाद् भयमिह-लोकभयं, विजातीयात्तु तिर्यग्देवादेः सकाशाद्भयं परलोकभयं, आदीयत इत्यादानं–धनं तदर्थं चौरादिभ्यो यद्भयं तदादानभयम्, अकस्मादेव–बाह्यनिमित्तानपेक्षं गृहादिष्वेवावस्थितस्य रात्र्यादौ भयम् अकस्माद्भयं, आजीवे ति आजीविकाभयं निर्धनः कथं दुर्भिक्षादावात्मानं धारयिष्यामीत्याजीविकाभयं, मरणाद्भयं मरण-भयं प्रतीतमेव, असिलोगो त्ति अश्लाघाभयम्–अयशोभयमित्यर्थः।

२. आ.चू. (द्वि), पृ. ११३– मदस्थानानीति द्विपदं वचनं, मदो नाम मानोदयादात्मोत्कर्षपरिणामः। स्थानानि–तस्यैव पर्याया भेदाः, मदस्य स्थानानि मदस्थानानि।

३. अंगुत्तरनिकाय, प्रथम भाग, पृ. १४९, १५०

४. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०४

५. उत्तराध्ययन १६/७

६. वही, १६/११

७. (क) ठाणं ९/३ (ख) समवाओ ९/१

दसवां स्थान स्थानांग तथा समवायांग में आठवें स्थान के रूप में गृहीत है। इन स्थानों की स्थापना में तीनों आगमों में व्यत्यय अवश्य प्राप्त होता है किन्तु भाव की दृष्टि से सर्वत्र प्रायः समानता है।

आचार्य भिक्षु ने 'णो सद्दरूवरसगंधफासाणुवाई हवइ' इस स्थान को कोट (परकोटा) माना है।[1] नौ स्थान ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बाड़ रूप हैं और यह उन बाड़ों के चारों ओर स्थापित कोट (परकोटा) है। कोट बाड़ की सुरक्षा करता है और बाड़ खेत (ब्रह्मचर्य) की सुरक्षा करते हैं।

उत्तराध्ययन के १६वें अध्ययन में सूत्रकार ने बताया है कि जो ब्रह्मचारी इन साधनों के प्रति उपेक्षाभाव रखता है, उसके ब्रह्मचर्य-नाश की संभावनाएं इस प्रकार हैं–

१. शंका
२. कांक्षा
३. विचिकित्सा
४. ब्रह्मचर्य में भेद
५. उन्माद
६. दीर्घकालिक रोगांतक
७. केवली प्रज्ञप्त धर्म से च्युत हो जाना।[2]

'शील की नवबाड़' ग्रन्थ में शील के दस समाधिस्थानों का विस्तार से वर्णन तथा समाधि-स्थान में उदाहरणों का नामोल्लेख प्राप्त होता है।[3] वे ये हैं–

स्थान	उदाहरण
प्रथम	सिंहगुफावासी यति, कुलबालुडा
द्वितीय	मल्लिकुमारी, महारानी मृगावती, द्रौपदी
तृतीय	सम्भूत चक्रवर्ती
चतुर्थ	राजीमती और रथनेमि, रूपीराय, एलाची पुत्र, मणिरथ-मदनरेखा, राजकुमार अरणक
पंचम	मेघगर्जन और मोर पपीहे का दृष्टान्त
षष्ठ	जिनरक्षित-जिनपाल, विषमिश्रित छाछ, सर्पदंश
सप्तम	भूदेव ब्राह्मण, आचार्य मंगू, राजर्षि शैलक,
अष्टम	पुण्डरीक-कुण्डरीक
नवम	×

पंडित आशाधरजी ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों को निम्न रूप में उपस्थित किया है।[4]

१. मा रूपादिरसं पिपासः सुदृशां– ब्रह्मचारी स्त्रियों के रूप, रस, गंध, स्पर्श तथा शब्द के रसों का पान करने की इच्छा न करे।

२. वस्तिमोक्षं मा कृथाः– वह ऐसे कार्य न करे, जिससे लिंग-विकार होने की संभावना हो।

३. वृष्यं मा भज– ब्रह्मचारी वृष्य-आहार– कामोद्दीपक आहार का सेवन न करे।

४. स्त्रीशयनादिकं च मा भज– स्त्रियों से सेवित शयन, आसनादिक का उपयोग न करे।

५. वराङ्गे दृशं मा दाः– स्त्रियों के अंगों को न देखे।

६. स्त्रीं मा सत्कुरु– स्त्री का सत्कार न करे।

७. मा च संस्कुरु– शरीर-संस्कार न करे।

८. रतवृत्तं मा स्मर– पूर्व सेवित काम का स्मरण न करे।

९. वत्स्यंद् मा इच्छ– भविष्य में क्रीड़ा करने का न सोचे।

१०. इष्टविषयान् मा जुषस्व– इष्ट रूपादि विषयों से मन को युक्त न करे।

जैनेतर ग्रंथों में भी ब्रह्मचर्य की रक्षा के अनेक उपाय निर्दिष्ट हैं। किन्तु इस प्रकार शृंखलाबद्ध उल्लेख उनमें नहीं मिलता। दक्षस्मृति (७/३१-३३) में प्रतिपादित है कि ब्रह्मचारी मैथुन के इन प्रकारों– स्मरण, क्रीड़ा, दर्शन, गुह्यभाषण, संकल्प, अध्यवसाय, क्रिया आदि से विरत रहकर ब्रह्मचर्य की रक्षा करे।

ब्रह्मचर्य गुप्ति के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य उत्तराध्ययन अध्ययन १६

20. दस प्रकार के श्रमणधर्म से (दसविहे समणधम्मे)

स्थानांग (१०/१६) तथा समवायांग(१०) के अनुसार श्रमण धर्म के दस प्रकार ये हैं–

१. क्षान्ति– क्रोध का निग्रह।

२. मुक्ति– निर्लोभता। प्राप्त वस्तु के लिए हर्ष और अप्राप्त वस्तु के लिए शोक न करना।

३. आर्जव– मायानिग्रह।

४. मार्दव– माननिग्रह। जाति, कुल आदि के द्वारा अपना उत्कर्ष तथा पर-पराभव नहीं करना।

५. लाघव– उपकरण की अल्पता, ऋद्धि, रस और सात– इन तीनों गौरवों का त्याग।

६. सत्य– काय ऋजुता, भाव ऋजुता, भाषा ऋजुता और अविसंवादन योग– कथनी-करनी की समानता।

७. संयम– हिंसा आदि की निवृत्ति।

८. तप– बारह प्रकार की तपस्या।

९. त्याग– विसर्जन– अपने सांभोगिक साधुओं को भोजन आदि का दान।

१०. ब्रह्मचर्यवास– कामभोग विरति।

तत्वार्थसूत्रानुसारी परम्परा के अनुसार श्रमण धर्म के दस प्रकार ये हैं–

---

१. आचार्यश्री भिक्षु द्वारा रचित शील की नवबाड़ ढाल ११

२. उत्तराध्ययन १६/३

३. आचार्य भिक्षु द्वारा रचित 'शील की नवबाड़' का परिशिष्ट 'क'– कथा और दृष्टान्त।

४. अनगारधर्मामृत ४/६१

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां, मा वस्तिमोक्षं कृथा,
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा, मा दा वरांगे दृशम्।
मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं, वृत्तं स्मरस्मार्य मा,
वत्स्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान्, द्विः पञ्चधा ब्रह्मणे।।

१. उत्तम क्षमा
२. उत्तम मार्दव
३. उत्तम आर्जव
४. उत्तम शौच
५. उत्तम सत्य
६. उत्तम संयम
७. उत्तम तप
८. उत्तम त्याग
९. उत्तम आकिंचन्य
१०. उत्तम ब्रह्मचर्य।[1]

चूर्णि और हारिभद्रीया वृत्ति में लाघव और त्याग के स्थान पर शौच और आकिंचन्य को माना है। उनमें क्रम व्यत्यय भी है।

हरिभद्र सूरी ने मतान्तर का उल्लेख भी किया है। उसके अनुसार दस धर्म ये हैं– क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव, लाघव, तप, संयम, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

यह दस प्रकार का श्रमण धर्म मूलगुण और उत्तरगुण में समाविष्ट हो जाता है। संयम का प्राणातिपातविरति में, सत्य का मृषावादविरति में, आकिंचन्य का अदत्तादान और परिग्रहविरति में, ब्रह्मचर्य का मैथुनविरति में और क्षान्ति, मार्दव, आर्जव, शौच, तप का उत्तरगुण में समावेश होता है।[2]

विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– ठाणं १०/१६ का टिप्पण।

21. ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं से (एगारसहिं उवासग-पडिमाहिं)

जैन धर्म में गृहस्थ के लिए चार श्रेणियां निर्दिष्ट हैं– भद्रक, सम्यक्दर्शनी, व्रती और प्रतिमाधारी। ये उसके विकास की क्रमिक अवस्थाएं हैं। प्रतिमा का अर्थ है– अमुक प्रकार की प्रतिज्ञा अथवा संकल्प। गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाएं हैं–

१. दर्शन प्रतिमा
२. व्रत प्रतिमा
३. सामायिक प्रतिमा
४. पौषध प्रतिमा
५. कायोत्सर्ग प्रतिमा
६. ब्रह्मचर्य प्रतिमा
७. सचित्त प्रतिमा
८. आरम्भ प्रतिमा
९. प्रेष्य प्रतिमा
१०. उद्दिष्ट प्रतिमा
११. श्रमणभूत प्रतिमा।

चूर्णिकार ने मतान्तर के अनुसार ग्यारह प्रतिमाओं का क्रम इस प्रकार निर्दिष्ट किया है[3]–

१. दर्शन श्रावक
२. कृतव्रतकर्म
३. कृतसामायिक
४. पौषधोपवासनिरत
५. रात्रिभक्तविरत
६. सचित्ताहारपरित्याग
७. दिवा ब्रह्मचारी तथा रात्रि में परिमाणकृत
८. दिन और रात– दोनों काल में ब्रह्मचारी, स्नान-वर्जन तथा केश, रोम और नखों का अपनयन करना
९. आरम्भ परित्याग
१०. प्रेष्य-आरम्भ परित्याग
११. उद्दिष्टभक्तवर्जक श्रमणभूत।

समवायांग के वृत्तिकार ने मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार ग्यारह प्रतिमाएं ये हैं[4]–

१. दर्शनश्रावक
२. कृतव्रतकर्म
३. कृतसामायिक
४. पौषधोपवासनिरत
५. रात्रिभक्तपरित्याग
६. सचित्त परित्याग
७. दिवा ब्रह्मचारी तथा रात्रि में परिमाणकृत
८. दिन और रात– दोनों काल में ब्रह्मचारी, स्नानवर्जन तथा केश, रोम और नखों का अपनयन करना
९. आरम्भ और प्रेषण परित्याग
१०. उद्दिष्टभक्तवर्जन
११. श्रमणभूत।

प्रवचनसारोद्धार में प्रतिमाओं का जो विशद विवेचन प्राप्त है। उनमें क्रमभेद स्पष्ट लक्षित होता है।[5]

दिगम्बर परम्परा में प्रतिमाओं का यह क्रम मान्य है[6]–

१. दर्शन
२. व्रत
३. सामायिक
४. पौषध
५. सचित्तत्याग
६. रात्रिभुक्तित्याग
७. ब्रह्मचर्य
८. आरम्भत्याग
९. परिग्रहत्याग
१०. अनुमतित्याग
११. उद्दिष्टत्याग।

दिगम्बर आचार्यों ने ग्यारह प्रतिमाधारियों को तीन भागों में विभक्त किया है– गृहस्थ, वर्णी या ब्रह्मचारी तथा भिक्षुक। प्रारम्भ की छह प्रतिमाओं को धारण करने वाले गृहस्थ, सातवीं, आठवीं और नौवीं प्रतिमाओं को धारण करने वाले वर्णी और अन्तिम दो प्रतिमाओं को धारण करने वाले भिक्षुक कहलाते हैं।[7]

दशाश्रुतस्कंध में इन ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन अवश्य है परन्तु सभी का कालमान निर्दिष्ट नहीं है। फिर भी आनन्द श्रावक के वर्णन से यह फलित होता है कि इनकी संपूर्ण साधना में छासठ मास लगते थे। पहली प्रतिमा के लिए एक मास–इसी प्रकार क्रमशः ग्यारहवीं प्रतिमा के लिए ११ मास। आनन्द ने बारहव्रती के रूप में चौदह वर्ष बिताए और बीस वर्ष बीतने पर अपश्चिम-मरणान्तिक-संलेखना की।[8]

प्रतिमा के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य समवाय ११/१ एवं उवासगदसाओ १/६१-६३ के टिप्पण।

22. बारह भिक्षु प्रतिमाओं से (बारसहिं भिक्खुपडिमाहिं)

प्रतिमा का अर्थ है– अभिग्रह, प्रतिज्ञा, प्रतिपत्ति। भिक्षु की

---

१. तत्वार्थ राजवार्तिक पृ. ५२३
२. आ.चू. (द्वि) पृ. ११७– एस दसविधो समणधम्मो मूलुत्तरगुणेसु समोयरति, संजमो पाणातिपातविरती सच्चं मुसावायवेरमणं आकिंचणयं– निम्ममत्तं अदत्तपरिग्गहवज्जणं, बंभचेरं मेहुणविरती, खंती मद्दवं अज्जवं सोतं तवो (चागो) उत्तरगुणेसु जथासंभवं।
३. वही, पृ. १२०– एत्थ कह वि अण्णो वि पाढो दिस्सति....।
४. समवायांगवृत्ति, पत्र-२०– पुस्तकान्तरे त्वेवं वाचना.....।
५. प्रवचनसरोद्धार, गाथा ९८०-९९३
६. वसुनन्दि श्रावकाचार, गाथा-४
७. यशस्तिलकचम्पू, अष्टम अध्याय श्लो. ३९९
षडत्र गृहिणो ज्ञेयास्त्रयः स्युर्ब्रह्मचारिणः।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ, ततः स्यात् सर्वतो यतिः।।
८. उवासगदसाओ १/५७-६३

बारह प्रतिमाएं हैं। जो भिक्षु विशिष्ट संहननसंपन्न, धृतिसम्पन्न, शक्तिसम्पन्न तथा श्रुतसम्पन्न होता है, वह गुरु की आज्ञा से इन प्रतिमाओं को ग्रहण करता है। उसकी जघन्य श्रुतसंपदा नौवें पूर्व की तृतीय वस्तु तथा उत्कृष्ट श्रुतसंपदा कुछ न्यून दस पूर्व है। केवली की उपस्थिति में यह नियमन नहीं है। भगवती के वृत्तिकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया है– स्कन्दक ग्यारह अंग का अध्येता था। प्रतिमा की साधना विशिष्ट श्रुतसम्पन्न मुनि ही कर सकता है। फिर उन्होंने प्रतिमा की आराधना कैसे की? इसका समाधान यह है– स्कन्दक ने भगवान् से अनुज्ञा प्राप्त कर प्रतिमा की आराधना की थी।[1]

प्रतिमा की अनुपालना करने वाला मुनि जिनकल्पी मुनि की भांति व्युत्सृष्ट-व्यक्तदेह तथा देव, मनुष्य और तिर्यंच कृत उपसर्गों को सहने में सक्षम होता है। भिक्षु गच्छ से निष्क्रमण कर एकमासिकी भिक्षु-प्रतिमा की आराधना करता है। वह शरीर का परिकर्म और सार-संभाल नहीं करता, अलेपकृत (रूखा) आहार करता है। वह एषणा (संसृष्टा आदि सात) और गोचराग्र (पेटा आदि आठ)–इनमें से कोई अभिग्रह धारण कर (अमुक द्रव्य अमुक अवस्था में मिले तो लूं, अन्यथा नहीं–इस संकल्प के साथ) भिक्षा ग्रहण करता है। पहली प्रतिमा एक मास की होती है। उसमें मुनि आहार तथा पानी की एक-एक दत्ती लेता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ वह सातवीं प्रतिमा में आहार और पानी की सात-सात दत्तियां लेता है। द्विमासिकी से सप्तमासिकी पर्यन्त प्रतिमाएं गच्छ में रहकर की जाती हैं। शेष प्रतिमाएं गांव के बाहर रहकर की जाती हैं। आठवीं प्रतिमा सात अहोरात्र की होती हैं। इसमें मुनि उपवास करता है, अपानक (जल रहित) रहता है, पारणे में आयंबिल करता है। गांव के बाहर रहता है और उत्तानशयन, पार्श्वशयन आदि आसन में स्थित होता है। नौवीं प्रतिमा में भी भिक्षु अपानक उपवास करता है, गांव के बाहर रहता है तथा उत्कटुक, लगुडाशयन अथवा दंडायतिक आसन में स्थित होता है। दसवीं प्रतिमा भी पूर्ववत् होती है। उसमें गोदोहिका, वीरासन अथवा आम्रकुब्जासन में स्थित होता है। ग्यारहवीं प्रतिमा अहोरात्र की होती है। इसमें भिक्षु अपानक षष्ठ भक्त करता है। गांव के बाहर भुजाओं को लंबा कर कायोत्सर्ग में स्थित होता है। बारहवीं प्रतिमा अष्टम भक्त–तेले की अंतिम रात्री में की जाती है। इसमें मुनि की शारीरिक अवस्था इस प्रकार होती है– प्रलम्ब बाहु, सटे हुए पैर, आगे की ओर झुका हुआ शरीर तथा अनिमेष नयन।[2]

भिक्षु प्रतिमाओं को स्वीकार करने वाले मुनि को निम्न नियम पालने आवश्यक होते हैं–

१. वह आहार-पानी की निर्धारित दत्तियां ले तथा तप का पूरा पालन करे।

२. वह गोचरी प्रथम, द्वितीय या तृतीय प्रहर में से किसी एक प्रहर में करे।

३. जिस गांव या नगर में परिचित स्त्री-पुरुष हो वहां वह एक रात रहे। यदि परिचित स्त्री-पुरुष न हों तो दो रात रहा जा सकता है, अधिक नहीं।

४. वह चार प्रकार की भाषाएं बोल सकता है– याचनी, पृच्छनी, अनुज्ञापनी तथा पृष्टव्याकरणी।

५. वह तीन प्रकार के उपाश्रय में रह सकता है– आराम गृह में,[4] वृक्षमूल में, विवृतगृह– खुले घर में।

६. वह तीन प्रकार के संस्तारक काम में ले सकता है– पृथ्वीशिला, काष्ठपट्ट, यथासंस्तृत घास आदि।

---

१. श्री पंचाशक १८/४,५
पडिवज्जइ एयाओ, संघयणं धिइजुओ महासत्तो।
पडिमाउ भावियप्पा, सम्मं गुरुणा अणुण्णाओ।।
गच्छे च्चिअ-निम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा।
णवमस्स तइयवत्थू, होइ जहण्णो सुयाहिगमो।।

२. भ.वृ. २/५९– नन्वयमेकादशाङ्गधारी पठितः, प्रतिमाश्च विशिष्ट-श्रुतवानेव करोति, यदाह–
गच्छेच्चिय णिम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा।
नवमस्स तइयवत्थू, होइ जहण्णो सुयाहिगमो।।
इति कथं न विरोधः? उच्यते, पुरुषान्तरविषयोऽयं श्रुतनियमः, तस्य तु सर्वविदुपदेशेन प्रवृत्तत्वान्न दोष इति।

३. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०५-१०६–
पडिवज्जइ संपुण्णो, संघयणधिइजुओ महासत्तो।
पडिमाउ जिणमयंमी, सम्मं गुरुणा अणुण्णाओ।।१।।
गच्छेच्चिय निम्माओ, जा पुव्वा दस भवे असंपुण्णा।
नवमस्स तइयवत्थुं, होइ जहण्णो सुयाभिगमो।।२।।
वोसट्ठचत्तदेहो, उवसग्गसहो जहेव जिणकप्पी।
एसण अभिग्गहीया, भत्तं च अलेवयं तस्स।।३।।
गच्छा विणिक्खमित्ता, पडिवज्जे मासियं महापडिमं।
दत्तेगभोयणस्सा, पाणस्स वि एग जा मासं।।४।।
पच्छा गच्छमईए, एव दुमासि तिमासि जा सत्त।
नवरं दत्तीवुड्ढी, जा सत्त उ सत्तमासीए।।५।।
तत्तो य अट्ठमीया, हवई हू पढमसत्तराइंदी।
तीय चउत्थचउत्थेणऽपाणएणं अह विसेसो।।६।।
उत्ताणगपासल्लीणेसज्जीवावि ठाण ठाइत्ता।
सहउवसग्गे घोरे, दिव्वाई तत्थ अविकंपो।।७।।
दोच्चावि एरिसच्चिय बहिया गामाइयाण णवरं तु।
उक्कुडलगंडसाई, डंडाइतिउव्व ठाइत्ता।।८।।
तच्चाएवि एवं, णवरं ठाणं तु तस्स गोदोही।
वीरासणमहवावी, ठाइज्ज व अंबखुज्जो वा।।९।।
एमेव अहोराई, छट्ठं भत्तं अपाणयं णवरं।
गामणयराण बहिया, वग्घारियपाणिए ठाणं।।१०।।
एमेव एगराई, अट्ठमभत्तेण ठाण बाहिरओ।
ईसीपब्भारगए, अणिमिसनयणेगदिट्ठीए।।११।।

४. ठाणं ३/४२१ में इसके स्थान पर 'आगमनगृह' का उल्लेख है।

७. उपाश्रय में यदि स्त्री या स्त्रीसहित पुरुष भी आ जाए तो भी वह उपाश्रय को न छोड़े।

८. उपाश्रय में आग लग जाए तो भी उपाश्रय को न छोड़े।

९. पैरों में कांटा चुभ जाए तो भी उसे न निकाले।

१०. आंख में रज:कण अथवा अन्य जंतु आदि गिर जाए तो भी उसे न निकाले।

११. मार्ग में गमन करते-करते जहां सूर्यास्त हो जाए, वहीं स्थित हो जाए।

१२. वह शीतोदक अथवा उष्णोदक से भी हाथ, पैर, आंख आदि न धोए।

१३. वह ठंड से गर्मी में अथवा गर्मी से ठंड में न जाए।

ये नियम बारह ही प्रतिमाओं का अनुपालना करने वाले मुनियों के लिए सर्व सामान्य हैं।

बारह प्रतिमाओं में अंतिम प्रतिमा है– एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा। इस प्रतिमा को स्वीकार करने वाला मुनि श्मशान में कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित हो जाता है। देव, मनुष्य तथा तिर्यंच संबंधी उपसर्ग उत्पन्न होने पर वह समभाव से उन्हें सहन करता है।

एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा का सम्यक् अनुपालन नहीं करने पर सूत्रकार ने कुछ अलाभ भी बतलाए हैं–

१. उन्माद को प्राप्त होना अथवा

२. व्याधि या आतंक से ग्रस्त होना अथवा

३. धर्म से च्युत हो जाना।

एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा का सम्यग् अनुपालन करने वाला इन लाभों से लाभान्वित होता है–

१. अवधिज्ञान प्राप्त हो जाता है अथवा

२. मन:पर्यव ज्ञान प्राप्त हो जाता है अथवा

३. केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है।[1]

इन प्रतिमाओं का स्वीकार एक साथ नहीं होता। मुनि सर्वप्रथम गुरु की अनुज्ञा से एकमासिकी भिक्षु प्रतिमा स्वीकार करता है। उसको सम्पन्न कर वह पुन: गच्छ में जाकर दूसरी द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा के लिए गुरु की अनुज्ञा प्राप्त करता है। स्कंदक अनगार पहली मासिकी भिक्षु-प्रतिमा सम्पन्न कर भगवान् के पास जाकर बोला– 'भंते! मैं आपकी अनुज्ञा पाकर द्विमासिकी भिक्षुप्रतिमा को स्वीकार कर विहार करना चाहता हूं।' ....भगवान् इसकी अनुज्ञा देते हैं। इसी प्रकार त्रैमासिकी यावत् बारहवीं एकरात्रिकी भिक्षुप्रतिमा की आज्ञापूर्वक आराधना करता है।[2]

दसाओं के अनुसार प्रतिमाओं का विवरण इस प्रकार है–

	नाम	कालमान	आहार-परिमाण	प्रारंभिक तपस्या	साधना स्थल	आसन
१.	एकमासिकी भिक्षु प्रतिमा	एक मास	एक-एक दत्ति	–	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	–
२.	द्वैमासिकी भिक्षु प्रतिमा	दो मास	दो-दो दत्तियां	–	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	–
३.	त्रैमासिकी भिक्षु प्रतिमा	तीन मास	तीन-तीन दत्तियां	–	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	–
४.	चातुर्मासिकी भिक्षु प्रतिमा	चार मास	चार-चार दत्तियां	–	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	–
५.	पाञ्चमासिकी भिक्षु प्रतिमा	पांच मास	पांच-पांच दत्तियां	–	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	–
६.	षाण्मासिकी भिक्षु प्रतिमा	छह मास	छह-छह दत्तियां	–	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	–
७.	साप्तमासिकी भिक्षु प्रतिमा	सात मास	सात-सात दत्तियां	–	आरामगृह, शून्यगृह, वृक्षमूल	–
८.	प्रथम सात रात-दिन की भिक्षु प्रतिमा	सात दिन-रात	–	चतुर्थ भक्त	गांव आदि के बाहर	उत्तान, पार्श्वशयन, निषद्या
९.	द्वितीय सात रात-दिन की भिक्षु प्रतिमा	सात दिन-रात	–	चतुर्थ भक्त	गांव आदि के बाहर	दण्डायत, लगुडासन, उकडू
१०.	तृतीय सात रात-दिन की भिक्षु प्रतिमा	सात दिन-रात	–	चतुर्थ भक्त	गांव आदि के बाहर	गोदोहिका, वीरासन, आम्रकुब्ज
११.	अहोरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा	एक दिन-रात	–	षष्ठ भक्त	गांव आदि के बाहर	गोदोहिका, वीरासन, आम्रकुब्ज
१२.	एकरात्रिकी भिक्षु प्रतिमा	एक रात	–	अष्टम भक्त	गांव आदि के बाहर	कायोत्सर्ग आदि।

१. (क) दसाओ, ७/३४-३५

(ख) आ.चू. (द्वि.) पृ. १२६-१२७–एगराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा अहिताए असुभाय अखमाए अणिस्सेसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति, तं जहा–उम्मायं वा लभेज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं पाउणेज्जा, केवलि-पण्णत्ताओ धम्माओ वा भंसिज्ज, एगराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणा हिताए जाव अणुगामियत्ताए भवंति, तं जथा–ओधिणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, मणपज्जवणाणे वा से समुप्पज्जेज्जा, केवलणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जिज्जा।

२. भगवई, २/१/५७-६०

स्थानांग में उपधान प्रतिमा, विवेकप्रतिमा आदि अनेक प्रतिमाओं का वर्णन है। भगवान् महावीर ने भद्रा, सुभद्रा, महाभद्रा, सर्वतोभद्रा प्रतिमाएं की थी।

प्रतिमाओं के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य–ठाणं, २/२४३-२४८ का टिप्पण।

23. तेरह क्रिया-स्थानों से (तेरसहिं किरियाट्ठाणेहिं)

प्रस्तुत सूत्र में तेरह क्रियाओं का निर्देश है। क्रिया का अर्थ है– कर्मबंध की हेतुभूत चेष्टा तथा स्थान का अर्थ है– चेष्टा का भेद, पर्याय।[1] क्रियास्थान तेरह हैं[2]–

१. अर्थदण्ड– सप्रयोजन हिंसा।

२. अनर्थदण्ड– निष्प्रयोजन हिंसा।

३. हिंसादण्ड– हिंसा के प्रति हिंसा का प्रयोग।

४. अकस्मात्दण्ड– लक्ष्यीकृत प्राणी की हिंसा के लिए प्रवृत्त व्यक्ति द्वारा अलक्ष्यीकृत प्राणी की हिंसा।

५. दृष्टिविपर्यासदण्ड– मतिभ्रम से होने वाली हिंसा।

६. मृषावादप्रत्यय– मृषावाद के निमित्त से होने वाली क्रिया।

७. अदत्तादानप्रत्यय– अदत्तादान के निमित्त से होने वाली क्रिया।

८. आध्यात्मिक– बाह्य निमित्त के बिना स्वत: मन में होने वाली क्रिया।

९. मानप्रत्यय– अभिमान के निमित्त से होने वाली क्रिया।

१०. मित्रदोषप्रत्यय– मित्र-वर्ग के प्रति अप्रियता के निमित्त से होने वाली क्रिया।

११. मायाप्रत्यय– माया के निमित्त से होने वाली क्रिया।

१२. लोभप्रत्यय– लोभ के निमित्त से होने वाली क्रिया।

१३. ऐर्यापथिक– केवल योग के निमित्त से होने वाला कर्मबंधन।

क्रियाओं के अनेक वर्गीकरण प्राप्त हैं। उनमें तेरह क्रियाओं से संबंधित दो वर्गीकरण हैं– एक सूत्रकृतांग[3] का तथा दूसरा समवायांग का। दोनों में असमानता नहीं है। स्थानांग में मुख्य और गौण भेद से क्रियाओं के बहत्तर भेद भी किये गए हैं।[4]

विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– ठाणं, २/२-३७ का टिप्पण तथा सूत्रकृतांग, २/२/३-१७ तथा टिप्पण।

24. चौदह जीव-समूह से (चउद्दसहिं भूयगामेहिं)

भूत का अर्थ है– जीव और ग्राम का अर्थ है– समूह। जीवों के समूह को भूतग्राम कहते हैं।[5] वे चौदह हैं[6]–

सूक्ष्म एकेन्द्रिय	–	१. अपर्याप्तक	२. पर्याप्तक
बादर एकेन्द्रिय	–	३. अपर्याप्तक	४. पर्याप्तक
द्वीन्द्रिय	–	५. अपर्याप्तक	६. पर्याप्तक
त्रीन्द्रिय	–	७. अपर्याप्तक	८. पर्याप्तक
चतुरिन्द्रिय	–	९. अपर्याप्तक	१०. पर्याप्तक
असंज्ञी पंचेन्द्रिय	–	११. अपर्याप्तक	१२. पर्याप्तक
संज्ञी पंचेन्द्रिय	–	१३. अपर्याप्तक	१४. पर्याप्तक।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इन चौदह भूतग्रामों में चौदह गुणस्थानों का भी अवतरण किया है।[7] यह अवतरण गुणों के आधार पर हुआ है।

25. पन्द्रह परमाधार्मिक देवों से (पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं)

परमाधार्मिक– इसका शाब्दिक अर्थ है– परम अधार्मिक अर्थात् अत्यंत संक्लिष्ट परिणाम वाले। ये एक प्रकार के देवता हैं। नरक सात हैं। नारकीय जीव तीन प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं–

१. परमाधार्मिक देवों द्वारा उत्पादित वेदना।

२. परस्पर में उदीरित वेदना।

३. क्षेत्रविपाकी वेदना।

प्रथम तीन नारकों में नारकीय जीव तीनों प्रकार की वेदनाएं भोगते हैं और शेष चार नारकों में अंतिम दो प्रकार की वेदनाएं भोगी जाती हैं, क्योंकि वहां परमाधार्मिक देवों का अभाव है।

प्रथम तीन नरक पृथ्वियां– रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा में परमाधार्मिक देव नारकीय जीवों को भिन्न-भिन्न प्रकार से कष्ट देते हैं। वे देव पन्द्रह प्रकार के हैं। उनके नामों और कार्यों का विवरण सूत्रकृतांग की निर्युक्ति[8] में प्राप्त होता है। वह विवरण इस प्रकार है–

१. अंब– अपने निवास-स्थान से ये देव आकर अपने मनोरंजन के लिए नारकीय जीवों को इधर-उधर दौड़ाते हैं, पीटते हैं, उनको ऊपर उछालकर शूलों में पिरोते हैं, पृथ्वी पर पटक-पटक कर पीड़ित करते हैं, उन्हें पुन: अंबर–आकाश में उछालते हैं, नीचे फेंकते हैं।

२. अंबरिषी– मुद्गरों से आहत, खड्ग आदि से उपहत, मूर्च्छित उन नारकीयों को ये देव करवत आदि से चीरते हैं, रज्जु से बांधते हैं।

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०६– करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टेत्यर्थ:, तस्या: स्थानानि–भेदा: पर्याया अर्थायानर्थायेत्यादय:।

२. समवाओ, १३/१

३. सूयगडो, २/२/२

४. ठाणं, २/२-३७

५. आ.चू (द्वि) पृ. १३२– भूता– जीवा, गामो त्ति समूहो, भूताणं-गामा भूतग्गामा।

६. समवाओ, १४/१

७. (क) आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. १०७–....एवं चतुर्दशप्रकारो भूतग्राम: प्रदर्शित:, अधुनाऽमुमेव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकार:।
(ख) आ.चू. (द्वि), पृ. १३२

८. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, पृ. ६६-८१

३. श्याम– ये देव जीवों के अंगच्छेद करते हैं, पहाड़ से नीचे गिराते हैं, नाक को बींधते हैं, रज्जु से बांधते हैं।

४. शबल– ये देव नारकीय जीवों की आंतें बाहर निकाल देते हैं, हृदय को नष्ट कर देते हैं। कलेजे का मांस निकाल देते हैं। चमड़ी उधेड़ कर उन्हें कष्ट देते हैं।

५. रौद्र– ये देव अत्यन्त क्रूरता से नारकीय जीवों को कष्ट देते हैं।

६. उपरौद्र– ये देव नारकों के अंग-भंग करते हैं, हाथ-पैरों को मरोड़ देते हैं। ऐसा एक भी क्रूर कर्म नहीं जो ये न कर पाते हों।

७. काल– ये देव नारकियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कड़ाहों में पकाते हैं, उबालते हैं और उन्हें जीवित मछलियों की तरह सेकते हैं।

८. महाकाल– ये देव नारकों के छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं। पीठ की चमड़ी उधेड़ते हैं और जो नारक पूर्वभव में मांसाहारी थे, उन्हें वे मांस खिलाते हैं।

९. असि– ये देव नारकीय जीवों के अंग-प्रत्यंगों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, दु:ख उत्पादित करते हैं।

१०. असिपत्र (या धनु)– ये देव असिपत्र नाम के वन की विकुर्वणा करते हैं। नारकीय जीव छाया के लोभ से उन वृक्षों के नीचे आकर विश्राम करते हैं। तब हवा के झोंकों से असिधारा की भांति तीखे पत्ते उन पर पड़ते हैं और वे छिद जाते हैं।

११. कुंभि (कुंभ)– ये देव विभिन्न प्रकार के पात्रों में नारकीय जीवों को डालकर पकाते हैं।

१२. बालुका– ये देव गरम बालु से भरे पात्रों में नारकों को चने की तरह भुनते हैं।

१३. वेतरणी– ये नरकपाल वेतरणी नदी की विकुर्वणा करते हैं। वह नदी पीव, लोही, केश और हड्डियों से भरी-पूरी होती है। उसमें खारा गरम पानी बहता है। उस नदी में नारकीय जीवों को बहाया जाता है।

१४. खरस्वर– ये नरकपाल छोटे-छोटे धागों की तरह सूक्ष्मरूप से नारकों के शरीर को चीरते हैं। फिर उनके और भी सूक्ष्म टुकड़े करते हैं। उनको पुन: जोड़कर सचेतन करते हैं और कठोर स्वर में रोते हुए नारकों को शाल्मली वृक्ष पर चढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। वह वृक्ष वज्रमय तीखे कांटों से संवृत होता है। नारक उस पर चढ़ते हैं। नरकपाल पुन: उन्हें खींचकर नीचे ले आते हैं। यह क्रम चलता रहता है।

१५. महाघोष– ये सभी असुर देवों में अधमजाति के माने जाते हैं। ये नरकपाल नारकों की भीषण वेदना को देखकर परम मुदित होते हैं।

समवायांग,[१] आवश्यक निर्युक्ति,[२] चूर्णि[३] तथा हारिभद्रीया वृत्ति[४] में परमाधार्मिकों के कुछेक नामों में तथा क्रम में अन्तर मिलता है। उनके कार्यों का कहीं संक्षेप है, कहीं विस्तार है।

26. सोलह गाथाषोडशक से (सोलसहिं गाहासोलसएहिं)

सूत्रकृतांग के सोलह अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैं–

१. समय	९. धर्म
२. वैतालीय	१०. समाधि
३. उपसर्गपरिज्ञा	११. मार्ग
४. स्त्रीपरिज्ञा	१२. समवसरण
५. निरयविभक्ति	१३. याथातथ्य
६. महावीरस्तुति (वीरस्तव)	१४. ग्रन्थ
७. कुशीलपरिभाषित	१५. यमकीय
८. वीर्य	१६. गाथा।

सूत्रकृतांग के सोलहवें अध्ययन का नाम 'गाथा' है। जिसका सोलहवां अध्ययन 'गाथा' नामक है, उन अध्ययनों को 'गाथा-षोडशक' कहा गया है। फलितार्थ में यह सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध का वाचक है। सूत्रकृतांग चूर्णि में प्रथम श्रुतस्कंध का नाम 'गाथा' या 'गाथा-षोडशक' है।[५] सूत्रकृतांग के वृत्तिकार ने भी प्रथम श्रुतस्कंध का नाम 'गाथाषोडशक' माना है।[६]

उत्तराध्ययन में भी 'गाथाषोडाशक' का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।[७]

27. सतरह प्रकार के असंयम से (सत्तरसविहे असंजमे)

असंयम सतरह प्रकार का है[८]–

१. पृथ्वीकाय असंयम	६. द्वीन्द्रिय असंयम
२. अप्काय असंयम	७. त्रीन्द्रिय असंयम
३. तेजस्काय असंयम	८. चतुरिन्द्रिय असंयम
४. वायुकाय असंयम	९. पंचेन्द्रिय असंयम
५. वनस्पतिकाय असंयम	१०. अजीव असंयम

११. प्रेक्षा असंयम– निरीक्षण का असंयम।

१२. उपेक्षा असंयम– असंयम में व्यापार और संयम में अव्यापार।

१३. अपहत्य असंयम– उच्चार आदि का अविधि से परिष्ठापन।

---

१. समवाओ, १५।१

२-३. आवश्यकनिर्युक्ति तथा चूर्णि, पृ. १३६

४. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. १०७

५. सूत्रकृतांग चूर्णि, पृ. १५–
तत्थ पढमो सुतखंधो (गाथा) सोलसगा।

६. सूत्रकृतांग वृत्ति, पृ. ८–
इहाद्यश्रुतस्कन्धस्य गाथाषोडशक इति नाम।

७. उत्तराध्ययन ३१।१७–गाहासोलसएहिं.....।

८. समवाओ, १७।१

१४. अप्रमार्जना असंयम
१५. मन असंयम
१६. वचन असंयम
१७. काय असंयम।

आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत प्रसंग में सतरह प्रकार के असंयम के स्थान पर सतरह प्रकार के संयम का विस्तार से वर्णन किया है।[1]

28. अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से (अट्ठारसविहे अबंभे)

मूलत: अब्रह्मचर्य दो प्रकार का है– औदारिक शरीर संबंधी और वैक्रिय शरीर संबंधी। औदारिक शरीर संबंधी अब्रह्मचर्य मनुष्य और तिर्यंच दोनों से संबंधित है। वैक्रिय शरीर संबंधी अब्रह्मचर्य देवताओं से संबंधित है। दोनों के निम्नलिखित अठारह प्रकार होते हैं–

१-३. औदारिक कामभोगों का स्वयं मन से सेवन करना, मन से सेवन कराना, सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन करना।

४-६. औदारिक कामभोगों का स्वयं वचन से सेवन करना, वचन से सेवन कराना, सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन करना।

७-९. औदारिक कामभोगों का स्वयं काया से सेवन करना, काया से सेवन कराना, काया से सेवन करने वाले का अनुमोदन करना।

१०-१२. दिव्य कामभोगों का स्वयं मन से सेवन करना, मन से सेवन कराना, सेवन करने वाले का मन से अनुमोदन करना।

१३-१५. दिव्य कामभोगों का स्वयं वचन से सेवन करना, वचन से सेवन कराना, सेवन करने वाले का वचन से अनुमोदन करना।

१६-१८. दिव्य कामभोगों का स्वयं काया से सेवन करना, काया से सेवन कराना, काया से सेवन करने वाले का अनुमोदन करना।

इन अठारह प्रकारों से अब्रह्मचर्य का आचरण न करना ब्रह्मचर्य की अनुपालना है। समवायांग (समवाय १८/१) में अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य की प्रज्ञापना है।

29. उन्नीस ज्ञाता के अध्ययनों से (एगूणवीसाए नायज्झयणेहिं)

ग्यारह अंगों में ज्ञाताधर्मकथा का छट्ठा स्थान है। उसके निम्नलिखित उन्नीस अध्ययन हैं[2]–

१. उत्क्षिप्तज्ञात
२. संघाट
३. अंड
४. कूर्म
५. शैलक
६. तुंब
७. रोहिणी
८. मल्ली
९. माकंदी
१०. चन्द्रमा
११. दावद्रव
१२. उदकज्ञात
१३. मांडुक्य
१४. तेतली
१५. नंदीफल
१६. अपरकंका
१७. आकीर्ण
१८. सुंसुमा
१९. पौंडरीकज्ञात।

30. बीस असमाधि स्थानों से (वीसाए असमाहिट्ठाणेहिं)

समाधि के तीन अर्थ हैं– समाधान, चित्त की स्वस्थता और मोक्षमार्ग में अवस्थिति।[3] प्रस्तुत आलापक में बीस ऐसे स्थानों का निर्देश है, जिनसे मानसिक असमाधि पैदा होती है। ऐसे और अनेक कारण भी हो सकते हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में निर्दिष्ट बीस प्रकार मुनि जीवन के व्यवहार से संबंधित हैं। असमाधि स्थान का तात्पर्य है– असमाधि के आश्रय, भेद या पर्याय।[4] जिस आचरण से स्वयं को या दूसरों को असमाधि होती है, वह असमाधि स्थान है।

असमाधि का कारण प्रवृत्ति भी होती है तथा व्यक्ति भी हो सकता है। असमाधि पैदा करने वाली प्रवृत्ति करने वाला स्वयं असमाधि का शिकार होता है तथा दूसरों में भी असमाधि पैदा करता है। प्रस्तुत आलापक में व्यक्ति को कारण मानकर बीस स्थान गिनाए गए हैं–

१. शीघ्रगति से चलने वाला।
२. प्रमार्जन किए बिना चलने वाला।
३. अविधि से प्रमार्जन कर चलने वाला।
४. प्रमाण से अधिक शय्या, आसन आदि रखने वाला।
५. रत्नाधिक साधुओं का पराभव करने वाला।
६. स्थविरों का उपघात करने वाला।
७. प्राणियों का उपघात करने वाला।
८. प्रतिक्षण क्रोध करने वाला।
९. अत्यन्त क्रुद्ध होने वाला।
१०. परोक्ष में अवर्णवाद बोलने वाला।
११. बार-बार निश्चयकारी भाषा बोलने वाला।
१२. अनुत्पन्न नए कलहों को उत्पन्न करने वाला।
१३. क्षामित और उपशान्त पुराने कलहों की उदीरणा करने वाला।
१४. सचित्त रज से लिप्त हाथ से भिक्षा लेने वाला और सचित्त रज से लिप्त पैरों से अचित्त भूमि में संक्रमण करने वाला।
१५. अकाल में स्वाध्याय करने वाला।
१६. कलह करने वाला।

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १०८-१०९
२. समवाओ, १९/१
३. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. १०९– समाधानं समाधि:– चेतस: स्वास्थ्यं मोक्षमार्गेऽवस्थितिरित्यर्थ:।
४. वही, पृ. १०९– न समाधिरसमाधिस्तस्य स्थानानि–आश्रया भेदा: पर्याया: असमाधिस्थानान्युच्यते।

१७. शब्दकर– बकवास करने वाला।

१८. झञ्झाकर– गण में भेद डालने वाला या गण के मन को दुःखाने वाली भाषा बोलने वाला।

१९. सूर्योदय से सूर्यास्त तक बार-बार भोजन करने वाला।

२०. एषणा समिति का पालन न करने वाला।[1]

समवायांग (२०/१) तथा दशाश्रुतस्कंध (पहली दशा) में इन बीस स्थानों में क्रमभेद तथा वृत्तिकारों द्वारा की गई व्याख्याओं में भी अन्तर प्राप्त होता है।

विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– समवाओ २०/१ का टिप्पण।

स्थानांग १०/१४ में दश असमाधि स्थान का निर्देश है। वे इन बीस असमाधि स्थानों से सर्वथा भिन्न हैं। वहां पांच अ-महाव्रतों तथा पांच अ-समितियों को असमाधिस्थान कहा है।

31. इक्कीस शबलों से (एगवीसाए सबलेहिं)

शबल का अर्थ है– चितकबरा। जिस आचरण से चारित्र चितकबरा अर्थात् धब्बों वाला होता है, वह आचरण अथवा आचरणकर्त्ता शबल कहलाता है।[2] छोटे अपराध से मुनि को मूल प्रायश्चित्त प्राप्त नहीं होता, परन्तु वे अपराध उसके चरित्र में धब्बे उत्पन्न कर देते हैं। इसलिए ऐसे दोषों को 'शबल' की संज्ञा दी गई है।[3] प्रस्तुत आलापक में ऐसे इक्कीस आचरणों का आकलन किया गया है–

१. हस्तकर्म करने वाला।

२. मैथुन का प्रतिसेवन करने वाला।

३. रात्रिभोजन करने वाला।

४. आधाकर्म आहार करने वाला।

५. सागारिकपिंड खाने वाला।

६. औद्देशिक, क्रीत और सामने लाकर दिया गया भोजन करने वाला।

७. बार-बार अशन आदि का प्रत्याख्यान कर उसे खाने वाला।

८. छह महीनों में एक गच्छ से दूसरे गच्छ में संक्रमण करनेवाला।

९. एक महीने में तीन उदक-लेप लगाने वाला। (नाभिप्रमाण जल का अवगाहन करने वाला)

१०. एक महीने में तीन माया-स्थान का सेवन करने वाला।

११. राजपिंड खाने वाला।

१२. अभिमुखतापूर्वक प्राणातिपात करने वाला।

१३. अभिमुखतापूर्वक मृषावाद बोलने वाला।

१४. अभिमुखतापूर्वक अदत्तादान लेने वाला।

१५. अभिमुखतापूर्वक अनन्तरहित (अव्यवहित-बिछावन के द्वारा व्यवधान डाले बिना) पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करने वाला।

१६. अभिमुखतापूर्वक जल-स्निग्ध तथा सचित्त रज से संश्लिष्ट पृथ्वी पर स्थान या निषद्या करने वाला।

१७. अभिमुखतापूर्वक सचित्त पृथ्वी, सचित्त शिला, सचित्त प्रस्तरखंड, घुणकाष्ठ (तथा इसी प्रकार के अन्य?) जीव-प्रतिष्ठित, अंडों सहित, प्राण सहित, बीज सहित, हरित सहित, उत्तिङ्ग सहित, फफुंदी, कीचड़ और मकड़ी के जाल वाले आश्रय में स्थान या निषद्या करने वाला।

१८. अभिमुखतापूर्वक मूल भोजन, कंद भोजन, स्कन्द भोजन, त्वक् भोजन, प्रवाल भोजन, पत्र भोजन, पुष्प भोजन, फल भोजन, बीज भोजन और हरित भोजन करने वाला।

१९. एक वर्ष में दस उदक-लेप लगाने वाला।

२०. एक वर्ष में दस माया-स्थान का सेवन करने वाला।

२१. बार-बार सचित्त जल से लिप्त हाथों से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य को ग्रहण कर भोगने वाला।

यह संकलन समवायांग २१/१ के अनुसार किया गया है।

दशाश्रुतस्कन्ध २/३ में भी इनका उल्लेख है। वहां पांचवा शबल दोष है 'रायपिंडं भुंजमाणे सबले', सातवें शबल दोष में सहरिए के पश्चात् 'सउस्से' पाठ मिलता है तथा इक्कीसवें शबल दोष में 'मत्तेण वा दव्वीए वा भायणेण वा' ये शब्द अतिरिक्त हैं।

आवश्यक की हारिभद्रीया वृत्ति में संग्रहणी की तीन गाथाएं उद्धृत हैं। उनमें २१ शबल निदर्शित हैं। वृत्तिकार ने स्वतंत्र रूप से २१ शबलों की व्याख्या की है। इन सबमें क्रम व्यत्यय तो है ही। यत्र-तत्र शबलों में भी अन्तर है।[4]

शबल के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य समवाओ २१/१ का टिप्पण तथा श्री भिक्षु आगम विषय कोष भाग २ शब्द चारित्र।

32. बाईस परीषहों से (बावीसाए परीसहेहिं)

परीषह का अर्थ है– कष्ट। जो स्वतंत्र रूप से आता है, व्यक्ति की इच्छा के बिना प्राप्त होता है, वह है परीषह। कायक्लेश और परीषह एक नहीं है। कायक्लेश का अर्थ है– आसन करना, आतापना लेना आदि। इसमें जो कष्ट होता है, उसे स्वयं इच्छानुसार झेला जाता है। परीषह आगन्तुक कष्ट हैं। परीषह के दो प्रकार हैं–

१. द्रव्य परीषह– ऐहिक लाभ के लिए परवशता से बंधन आदि को सहना।

२. भाव परीषह– संसार की व्युच्छित्ति के लिए अव्यग्रचित्त से, समभाव से कष्ट सहना।

---

१. समवाओ २०।१

२. समवायांगवृत्ति, पत्र ३८– शबलं कर्बुरं चारित्रं यैः क्रिया-विशेषैर्भवति ते शबलास्तद्योगात् साधवोऽपि।

३. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. ११०–
अवराहंमि पयणुए, जेण उ मूलं न वच्चई साहू।
सबलेंति तं चरित्तं, तम्हा सबलत्तणं बेंति।।

४. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ११०-१११

परीषह आगन्तुक कष्ट हैं और उपसर्ग देवता आदि द्वारा कृत कष्ट है। इसके चार प्रकार हैं– दिव्य, मानुष्य, तैर्यञ्च तथा आत्म-संवेदनात्मक।[१]

परीषह बाईस हैं[२]–

१. क्षुधा परीषह	१२. आक्रोश परीषह
२. पिपासा परीषह	१३. वध परीषह
३. शीत परीषह	१४. याचना परीषह
४. उष्ण परीषह	१५. अलाभ परीषह
५. दंश-मशक परीषह	१६. रोग परीषह
६. अचेल परीषह	१७. तृणस्पर्श परीषह
७. अरति परीषह	१८. जल्ल परीषह
८. स्त्री परीषह	१९. सत्कार-पुरस्कार परीषह
९. चर्या परीषह	२०. प्रज्ञा परीषह
१०. निषद्या परीषह	२१. अज्ञान परीषह
११. शय्या परीषह	२२. दर्शन परीषह

परीषह-सहन के मुख्य दो प्रयोजन हैं– १. मार्गाच्यवन तथा २. निर्जरा।[३] मुनि स्वीकृत श्रमण मार्ग से च्युत न होने के लिए तथा समता में रमण कर कर्मक्षय करने के लिए कुछ सहता है। यह कष्टसहिष्णुता के विकास का मार्ग है।

बाईस परीषहों में दो परीषह–दर्शन परीषह तथा प्रज्ञा परीषह मार्ग से अच्यवन में सहायक होते हैं और शेष बीस परीषह निर्जरा के लिए होते हैं।[४]

परीषहों की उत्पत्ति कर्म सापेक्ष है। उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में उनके कर्मजन्य कारण ये हैं[५]–

- प्रज्ञा और अज्ञान– ये दो परीषह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से।
- अलाभ परीषह– अन्तराय कर्म के उदय से।
- अरति, अचेल, स्त्री, निषद्या, याचना, आक्रोश और सत्कार-पुरस्कार परीषह– ये सात परीषह चारित्र मोहनीय के उदय से।
- दर्शन परीषह– दर्शन मोहनीय के उदय से।
- शेष ग्यारह परीषह वेदनीय कर्म के उदय से होते हैं।

सभी परीषह नौवें गुणस्थान तक हो सकते हैं। दसवें गुणस्थान में चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले अरति आदि सात परीषह तथा दर्शन मोहनीय से उत्पन्न दर्शन परीषह को छोड़कर शेष परीषह होते हैं। छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि में भी ये ही चौदह परीषह हो सकते हैं। केवली में मात्र वेदनीय कर्म के उदय से होने वाले ग्यारह परीषह पाये जाते हैं।

समवायांग (२२/१) उत्तराध्ययन (अध्ययन २) तथा आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति[६] में अंतिम तीन परीषहों का क्रम भिन्न-भिन्न रूप से प्राप्त होता है–

समवायांग– ज्ञान, दर्शन, प्रज्ञा।

उत्तराध्ययन– प्रज्ञा, अज्ञान, दर्शन।

आवश्यक हारिभद्रीयावृत्ति– प्रज्ञा, अज्ञान, असम्यक्त्व।

आचारांग निर्युक्ति[७] में दो प्रकार के परीषहों में सभी बावीस परीषहों का समावेश किया है–

१. शीत परीषह– मन्दपरिणाम वाले। जैसे– स्त्री परीषह और सत्कार परीषह। ये दो अनुकूल परीषह हैं।

२. उष्ण परीषह– तीव्र परिणाम वाले। शेष बीस परीषह। ये प्रतिकूल परीषह हैं।

उत्तराध्ययन के दूसरे अध्ययन में परीषहों का विस्तार से वर्णन प्राप्त है। उसके वृत्तिकारों ने परीषहों से संबंधित कथानक भी दिए हैं।

आवश्यक के वृत्तिकार हरिभद्र[८] ने इन बावीस परीषहों को जीतने के उपायों का भी उल्लेख किया है–

१-२. क्षुधापरीषह तथा पिपासापरीषह उत्पन्न होने पर आगमोक्त विधि से आहार-पानी ग्रहण करना तथा अनेषणीय आहार-पानी का वर्जन करना।

३. शीत परीषह उत्पन्न होने पर अकल्प्य (मर्यादा से अधिक) वस्त्रों को ग्रहण न करना, ताप के लिए अग्नि के समारंभ से बचना।

४. उष्ण परीषह उत्पन्न होने पर जलावगाहन, स्नान, पंखे से हवा, छत्र आदि की मन से भी इच्छा न करना, ताप की निन्दा न करना।

५. दंशमशक– मच्छर आदि का परीषह उत्पन्न होने पर जिस स्थान पर मच्छरों का उपद्रव है, उस स्थान से अन्यत्र न जाना,

---

१. आ.हा.वृ. (प्र.) पृ. २६९–एत्थ वि दव्वभावविभासा, दव्वपरीसहा इहलोयणिमित्तं जो सहइ परवसो वा बंधणाइसु...भाव परीसहा जे संसारवोच्छेयणिमित्तं अणाउलो सहइ, तेहिं चेव उवणओ पसत्थो।....उपसृज्यतेऽसाविति वोपसर्गः कर्मसाधनः, स च प्रत्ययभेदाच्चतुर्विधः-दिव्यमानुषतैर्यग्योन्यात्मसंवेदना भेदात्।

२. उत्तरज्झयणाणि, अध्ययन २

३. तत्त्वार्थसूत्र, ९/८
मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।

४. आ.हा.वृ. (प्र), पृ. २६९–तत्र मार्गाच्यवनार्थं दर्शनपरीषहः प्रज्ञापरीषहश्च, शेषास्तु निर्जरार्थमिति।

५. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ७३-७८

६. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १११

७. आचारांगनिर्युक्ति, गाथा २०३,२०४–
इत्थी सक्कारपरिसहो य, दो भावसीतला एए।
सेसा वीसं उण्हा, परीसहा होंति नायव्वा।।
जे तिव्वपरीणामा, परीसहा ते भवति उण्हा उ।
जे मंदपरीणामा, परीसहा ते भवे सीया।।

८. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १११-११२

उनके निवारण के लिए धूम आदि न करना, पंखे आदि से हवा न लेना।

६. अचेल परीषह उत्पन्न होने पर जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को धारण करने में दीनता नहीं लाना।

७. अरतिपरीषह उत्पन्न होने पर सम्यग् धर्म में रत रहकर संसार के स्वभाव का चिन्तन करना।

८. स्त्रीपरीषह उत्पन्न होने पर स्त्री के अंग-प्रत्यंग, हसित, ललित, कटाक्ष आदि का कामबुद्धि से चिन्तन न करना, उन्हें आंख उठा भी न देखना।

९. चर्यापरीषह– अनियतवास करना, कहीं प्रतिबद्ध न होना।

१०. निषद्यापरीषह– स्त्री, पशु, नपुंसक रहित स्थान में रहना तथा वहां होने वाले उपसर्गों को सहन करना।

११. शय्या परीषह– वसति का स्थान ऊंचा-नीचा हो, ठंडा या गर्म हो, वहां अनुद्विग्न होकर रहना।

१२. आक्रोश परीषह– अनिष्ट वचनों तथा झूठी आलोचना को सुनकर कुपित नहीं होना।

१३. वध परीषह– हाथ, पैर, लता, चाबुक आदि के द्वारा पीटे जाने पर 'यह शरीर नाशवान् है' ऐसा चिन्तन कर उसे सहन करना तथा यह मेरे कृत कर्मों का फल है, ऐसा सोचना।

१४. याचना परीषह– मुनि परदत्तोपजीवी होता है। उसकी सारी आवश्यकताएं याचना से पूरी होती हैं। अतः वह याचना दुःख को सहन करे।

१५. अलाभ परीषह– याचना के द्वारा भी उपलब्ध न होने पर मुनि प्रसन्नचित्त रहे, मन को म्लान न करे।

१६. रोग परीषह– रोग होने पर विधिपूर्वक चिकित्सा करना, रोग से उद्विग्न न होना, रोगजनित कष्ट को समभाव से सहना।

१७. तृणस्पर्श परीषह– तृणसंस्तारक के कठोर और तीक्ष्ण स्पर्श से आकुल-व्याकुल न होना, मुलायम संस्तारक की वांछा न करना।

१८. जल्ल परीषह– शरीर पर जमा हुआ मैल पसीने से आर्द्र होकर दुर्गंध फैलाता है, उद्वेग उत्पन्न करता है। उसको दूर करने की वांछा न करना।

१९. सत्कार-पुरस्कार परीषह– कभी किसी के द्वारा असत्कारित अथवा अपुरस्कृत होने पर द्वेष न करना।

२०. प्रज्ञा परीषह– अपनी प्रज्ञा का अहं न करना।

२१. अज्ञान परीषह– कर्मविपाकजन्य अज्ञान के उदय होने पर उद्विग्न न होना।

२२. असम्यक्त्व परीषह (दर्शन परीषह)– मैं सर्व पापों से विरत हूं, उत्कृष्ट तप करने वाला हूं, अनासक्त हूं, फिर भी मैंने धर्म, अधर्म, देव, नारक आदि को नहीं देखा, ऐसा चिन्तन करना असम्यक्त्व परीषह है। असम्यक्त्व परीषह उत्पन्न होने पर ऐसा चिन्तन करना– धर्म है, अधर्म है, पुण्य है, पाप है, आत्मा है, नरक है, स्वर्ग है आदि-आदि।

परीषहों के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– उत्तरज्झयणाणि, दूसरा अध्ययन।

33. सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों से (तेवीसाए सुयगडज्झयणेहिं)

सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध में सोलह अध्ययन और द्वितीय श्रुतस्कंध में सात अध्ययन हैं। यहां उन दोनों का एक साथ निर्देश है। प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह अध्ययन–

१. समय	९. धर्म
२. वैतालिक	१०. समाधि
३. उपसर्गपरिज्ञा	११. मार्ग
४. स्त्रीपरिज्ञा	१२. समवसरण
५. नरक विभक्ति	१३. याथातथ्य
६. महावीरस्तुति	१४. ग्रन्थि
७. कुशील परिभाषित	१५. यमकीय
८. वीर्य	१६. गाथा।

द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन–

१. पुंडरीक	५. आचारश्रुत
२. क्रियास्थान	६. आर्द्रकीय
३. आहारपरिज्ञा	७. नालंदीय।
४. प्रत्याख्यानक्रिया	

34. चौबीस देवों से (चउवीसाए देवेहिं)

देव चार प्रकार के हैं– भवनपति, वानव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

भवनपति देवों के दस प्रकार हैं। वानव्यन्तर देवों के आठ प्रकार हैं। ज्योतिष्क देवों के पांच प्रकार हैं। वैमानिक देवों का समग्रता से एक प्रकार है। इनकी संकलना चौबीस होती है। मतान्तर के अनुसार चौबीस तीर्थंकर गृहीत हैं।[१]

35. पच्चीस भावनाओं से (पंचवीसाए भावणाहिं)

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में पंचयाम (पांच महाव्रतों) की पचीस भावनाओं का प्रज्ञापन किया गया है। वे ये हैं[२]–

अहिंसा महाव्रत की पांच भावनाएं–

१. ईर्यासमिति– गमन क्रिया में जागरूकता।

२. मनोगुप्ति– अकुशल मन का निरोध।

३. वचनगुप्ति– अकुशल वाणी का निरोध।

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ११३–
भवणवइजोइवेमाणिया य दसअट्ठपंच एगविहा।
इइ चउवीसं देवा, केई पुण बेंति अरहंता।।

२. समवाओ, २५/१

४. आलोक-भाजन-भोजन– चौड़े मुंह वाले पात्र में भोजन।

५. आदानभांडामत्रनिक्षेपणा समिति– वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को लेने-रखने में विधि का ध्यान रखना।

सत्य महाव्रत की पांच भावनाएं–

१. अनुवीचिभाषण– चिन्तन पूर्वक विधिवत् बोलना।

२. क्रोधविवेक– क्रोध का परिहार।

३. लोभ विवेक– लोभ का परिहार।

४. भय विवेक– भय का परिहार।

५. हास्य विवेक– हास्य का परिहार।

अचौर्य महाव्रत की पांच भावनाएं–

१. अवग्रहानुज्ञापना– स्थान के लिए गृहस्वामी की अनुज्ञा लेना।

२. अवग्रहसीमाज्ञान– गृहस्वामी द्वारा अनुज्ञात स्थान की सीमा को जानना।

३. स्वयमेव अवग्रह अनुग्रहणता– अनुज्ञात स्थान में रहना।

४. साधर्मिक अवग्रह अनुज्ञाप्य परिभोग– साधर्मिकों द्वारा याचित स्थान में उनकी आज्ञा से रहना।

५. साधारणभक्तपान अनुज्ञाप्य परिभोग– साधारण (सामान्य) आहार-पानी आदि का आचार्य की आज्ञा से परिभोग करना।

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पांच भावनाएं–

१. स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का वर्जन करना।

२. स्त्री-कथा का वर्जन करना।

३. स्त्रियों के इन्द्रियों के अवलोकन का वर्जन करना।

४. पूर्वभुक्त तथा पूर्वक्रीडित कामभोगों की स्मृति का वर्जन करना।

५. प्रणीत आहार का वर्जन करना।

अपरिग्रह महाव्रत की पांच भावनाएं–

१. श्रोत्रेन्द्रिय के राग से उपरत होना।

२. चक्षुःइन्द्रिय के राग से उपरत होना।

३. घ्राणेन्द्रिय के राग से उपरत होना।

४. रसनेन्द्रिय के राग से उपरत होना।

५. स्पर्शनेन्द्रिय के राग से उपरत होना।

ये पच्चीस भावनाएं महाव्रतों की सुरक्षा के लिए निर्दिष्ट हैं। भावना का अर्थ है– आत्मा को संस्कारित, वासित या भावित करने की क्रिया। इनका प्रतिदिन चिन्तन और क्रियान्वयन करने से महाव्रत पुष्ट होते हैं।

पच्चीस भावनाओं का प्रस्तुत संकलन समवायांग (२५/१) के आधार पर है।

प्रश्नव्याकरण, आचारचूला तथा आवश्यकनिर्युक्ति में भी पच्चीस भावनाओं का वर्णन प्राप्त होता है। उनमें नाम और क्रम में यत्र-तत्र अन्तर है। **विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य– समवाओ, २५/१ का टिप्पण।**

36. दशा, कल्प, व्यवहार के छब्बीस उद्देशन-कालों से (छव्वीसाए दसाकप्पववहाराणं उद्देसणकालेहिं)

उद्देसन काल का अर्थ है– जिसकी वाचना एक दिन में एक साथ दी जा सके। इसके आधार पर प्रत्येक अध्ययन का एक-एक उद्देसन-काल है।

दशाश्रुतस्कंध के दस अध्ययन।

कल्प (बृहत्कल्प) के छह अध्ययन।

व्यवहार सूत्र के दस अध्ययन।

इनका योग (१०+६+१०) २६ होता है।

37. सत्ताईस अनगार गुणों से (सत्तावीसाए अणगारगुणेहिं)

मुनि के सत्ताईस गुण ये हैं[1]–

१. प्राणातिपात विरमण

२. मृषावाद विरमण

३. अदत्तादान विरमण

४. मैथुन विरमण

५. परिग्रह विरमण

६. श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह

७. चक्षुरिन्द्रिय निग्रह

८. घ्राणेन्द्रिय निग्रह

९. रसनेन्द्रिय निग्रह

१०. स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह

११. क्रोध विवेक

१२. मान विवेक

१३. माया विवेक

१४. लोभ विवेक

१५. भावसत्य– अन्तरात्मा की पवित्रता

१६. करणसत्य– क्रिया की पवित्रता

१७. योगसत्य– मन-वचन-काया का सम्यक् प्रवर्तन

१८. क्षमा

१९. वैराग्य

२०. मनसमाहरण– मन का संकोचन

२१. वचनसमाहरण– वचन का संकोचन

२२. कायसमाहरण– काया का संकोचन

२३. ज्ञानसम्पन्नता

२४. दर्शनसम्पन्नता

२५. चारित्रसम्पन्नता

२६. वेदना अधिसहन

---

१. समवाओ, २७/१

२७. मारणान्तिक अधिसहन।

आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति[1] में इनका उल्लेख भिन्न प्रकार से है। वहां–

(१-६) रात्रिभोजन विरमण-सहित व्रतषट्क
(७-११) पांच इन्द्रिय-निग्रह
(१२-१७) षट्काय
(१८), भावसत्य
(१९) करणसत्य
(२०) क्षमा
(२१) वीरागता
(२२-२४) मनोवाक्काय निग्रह
(२५) संयमयोगयुक्तता
(२६) वेदनाअधिसहन
(२७) मारणान्तिक अधिसहन।

आवश्यक चूर्णिकार[2] का भी यही अभिमत है। उत्तराध्ययन के बृहद् वृत्तिकार शान्त्याचार्य[3] ने भी इन्हीं गुणों को स्वीकार किया है।

दिगम्बर परम्परा में मुनियों के अट्ठाईस गुणों का उल्लेख है।

पांच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों का निरोध, छह आवश्यक, लोच, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थिति भोजन और एक भक्त।[4]

38. अट्ठाईस प्रकार के आचारप्रकल्पों से (अट्ठावीसविहे आयारपकप्पे)

प्रकल्प का अर्थ है– जिसमें मुनि के कल्प-व्यवहार का निरूपण हो। निशीथ सूत्र सहित आचारांग को 'आचार प्रकल्प' कहा जाता है। मूल आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा आदि नौ अध्ययन हैं और दूसरा श्रुतस्कन्ध उसकी चूडा (शिखा) है। उसके १६ अध्ययन हैं। निशीथ के तीन अध्ययन हैं और वह भी आचारांग की ही चूडा है। इस प्रकार अट्ठाईस अध्ययन (९+१६+३) वाले सम्पूर्ण आचारांग की आचारप्रकल्प संज्ञा है।[5]

आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययन

१. शस्त्र परिज्ञा	६. धुत
२. लोकविचय	७. विमोह
३. शीतोष्णीय	८. उपधानश्रुत
४. सम्यक्त्व	९. महापरिज्ञा।
५. आवंती	

आचारांग द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन

१. पिंडैषणा	६. पात्रैषणा
२. शय्या	७. अवग्रह प्रतिमा
३. ईर्या	८-१४. सप्तसप्तिका
४. भाषा	१५. भावना
५. वस्त्रैषणा	१६. विमुक्ति।

निशीथ के तीन अध्ययन

१. उद्घात	३. आरोपण।
२. अनुद्घात	

समवायांग के वृत्तिकार ने आचारप्रकल्प के दो अर्थ किए हैं–

१. आचारांग का एक अध्ययन जिसे निशीथ कहा जाता है।
२. साध्वाचार का व्यवस्थापन।[6]

समवायांग २८/१ में आरोपणा के आधार पर आचारप्रकल्प के २८ प्रकार किए हैं, जैसे–

* एक मास की आरोपणा।
* एक मास पांच दिन की आरोपणा।
* एक मास दस दिन की आरोपणा आदि-आदि।

आरोपणा प्रायश्चित्त के समीकरण का आधार बनता है। किसी मुनि द्वारा अनेक दोष सेवित हो जाने से उसका प्रायश्चित्त छह मास से अधिक होता है। उस स्थिति में आरोपणा के द्वारा प्रायश्चित्त का समीकरण किया जाता है।

३९. उनतीस पापश्रुतप्रसंगों से (एगूणतीसाए पावसुयपसंगेहिं)

पाप के उपादानकारणभूत जो शास्त्र हैं– वे पापश्रुत कहलाते हैं। उन शास्त्रों का प्रसंग अर्थात् आसेवन[7] अथवा उन शास्त्रों के प्रति आसक्ति[8] रखना पापश्रुत प्रसंग है।

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. ११३–
सप्तविंशतिभेदान् प्रतिपादयन्नाह संग्रहणिकारः–
वयछक्कमिंदियाणं, च निग्गहो भावकरणसच्चं च।
खमया विरागया वि य, मणमाईणं निरोहो य।।१।।
कायाण छक्क जोगाण, जुत्तया वेयणाऽहियासणया।
तह मारणंतियऽहियासणा य एएऽणगारगुणा।।२।।

२. आ.चू. (द्वि), पृ. १४८

३. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति, पत्र ६१६

४. मूलाचार गा. २,३–
पंच य महव्वयाइं, समिदिओ पंच जिणवरुद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा, छप्पि य आवासया लोओ।।
आचेलकमण्हाणं, खिदिसयणमदंतधंसणं चेव।
ठिदिभोजणेयभत्तं, मूलगुणा अट्ठवीसा दु।

५. उत्तराध्ययन, बृहद्वृत्ति पत्र. ६१६– प्रकृष्टः कल्पो यतिव्यवहारो यस्मिन्नसौ प्रकल्पः स चेहाचाराङ्गमेव शस्त्रपरिज्ञाद्यष्टाविंशत्यध्ययनात्मकम्।

६. समवायांग वृत्ति, पत्र-४६–आचारः प्रथमांगं तस्य प्रकल्प अध्ययनविशेषो निशीथमित्यपराभिधानं, आचारस्य या साध्वाचारस्य ज्ञानादिविषयस्य प्रकल्पाव्यवस्थापनमित्याचारप्रकल्पः।

७. वही, पत्र ४७–तेषां प्रसंगः–तथाऽसेवनरूपः पापश्रुतप्रसंगाः।

८. उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति पत्र. ६१७–तेषु प्रसञ्जनानि प्रसंगाः तथाविधासक्तिरूपाः पापश्रुतप्रसंगाः।

समवायांग, २९/१ के अनुसार उनके २९ प्रकार इस प्रकार हैं–

१. भौम– भूकम्प आदि का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

२. उत्पात– स्वाभाविक उत्पातों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

३. स्वप्न– स्वप्न का शुभाशुभ फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

४. अन्तरिक्ष– आकाश में होने वाले ग्रह-युद्ध आदि का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

५. अंग– अंग-स्फुरण का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

६. स्वर– स्वर का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

७. व्यंजन– तिल, मसा आदि का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

८. लक्षण– शारीरिक लक्षणों का फल बताने वाला निमित्त-शास्त्र।

इन आठों के तीन-तीन प्रकार होते हैं– सूत्र, वृत्ति और वार्तिक।

२५. विकथानुयोग– अर्थ और काम के उपायों के प्रतिपादक ग्रन्थ।

२६. विद्यानुयोग– विद्या-सिद्धि के प्रतिपादक ग्रन्थ।

२७. मंत्रानुयोग– मंत्र-शास्त्र।

२८. योगानुयोग– वशीकरण-शास्त्र।

२९. अन्यतीर्थिकप्रवृत्तानुयोग– अन्यतीर्थिकों द्वारा प्रवर्तित शास्त्र।

प्रस्तुत प्रसंग में जो उनतीस प्रकार बतलाये गए हैं, वे आवश्यक हरिभद्रीया वृत्ति तथा उत्तराध्ययन की बृहद्वृत्ति में संग्रहणीकार की दो गाथाओं में निर्दिष्ट उनतीस प्रकारों से भिन्न हैं। इनके आधार पर वे उनतीस प्रकार ये हैं[1]–

१. दिव्य	५. अंग
२. उत्पात	६. स्वर
३. अंतरिक्ष	७. लक्षण
४. भौम	८. व्यंजन।

इन आठों के सूत्र, वृत्ति और वार्तिक– ये तीन-तीन प्रकार हैं।

२५. गन्धर्व	२८. आयुर्वेद
२६. नाट्य	२९. धनुर्वेद।
२७. वास्तु	

सूत्रकृतांग २/२/१८ में अनेकविध पापश्रुत अध्ययनों का निर्देश है। उनकी संख्या चौसठ है। उनमें प्रथम आठ वे ही हैं, जो यहां निर्दिष्ट हैं।

पापश्रुत अध्ययनों के विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य– सूत्रकृतांग २/२/१८ का टिप्पण।

40. तीस मोहनीय स्थानों से (तीसाए मोहनीयट्ठाणेहिं)

महामोहनीय कर्मबंध की तीस प्रवृत्तियों का उल्लेख समवायांग (३०/१) में इस प्रकार हुआ है–

१. किसी त्रस प्राणी को पानी में ले जाकर पैर आदि से आक्रमण कर पानी के द्वारा उसे मारना।

२. किसी त्रस प्राणी को गीले चमड़े की बांध से बांधकर मारना।

३. किसी मनुष्य का मुंह बंद कर, उसे कमरे में रोक कर, अन्तर्विलाप करते हुए को मारना।

४. अनेक जीवों को किसी एक स्थान में अवरुद्ध कर, अग्नि जलाकर उसके धुएं से मारना।

५. किसी प्राणी के सर्वोत्तम अंग (सिर) पर प्रहार कर, उसे खंड-खंड कर फोड़ देना।

६. प्रणिधि से वेश बदलकर किसी मनुष्य को विजन में फलक या डंडे से मारकर खुशी मनाना।

७. गोपनीय आचरण कर उसे छिपाना, माया से माया को ढांकना, असत्य बोलना तथा यथार्थ का अपलाप करना।

८. अपने दुराचरित कर्म का दूसरे निर्दोष व्यक्ति पर आरोप करना, अथवा किसी एक व्यक्ति के दोष का किसी दूसरे व्यक्ति पर 'तुमने यह कार्य किया था' ऐसा आरोपण करना।

९. यथार्थ को जानते हुए भी सभा के समक्ष मिश्र (सत्य और मृषा) भाषा बोलना और निरन्तर कलह करते रहना।

१०. शास्त्र-तंत्र में भेद डालने की प्रवृत्ति से अपने राजा को संक्षुब्ध और अधिकार से वंचित कर उसकी अर्थव्यवस्था (या अन्तःपुर) का ध्वंस कर देना और जब वह अधिकार-मुक्त राजा अपेक्षा लिए सामने आता है तब प्रतिलोम वाणी द्वारा उसकी भर्त्सना करना। इस प्रकार अपने स्वामी के विशिष्ट भोगों को विदीर्ण करना।

११. अकुमार-ब्रह्मचारी होते हुए भी अपने को कुमार ब्रह्मचारी (बाल ब्रह्मचारी) कहना।

१२. अब्रह्मचारी होते हुए भी अपने आपको ब्रह्मचारी कहना।

१३. राजा आदि के आश्रित होकर उसके संबंध से यश और सेवा का लाभ उठाकर जीविका चलाना और उसी के धन में लुब्ध होना।

१४. ईर्ष्या-द्वेष से आविष्ट होकर अपने भाग्य निर्माताओं के जीवन या सम्पदा में अन्तराय डालना।

---

१. आ.हा.वृ (द्वि), पृ. ११४–

अट्ठनिमित्तंगाइं, दिव्वुप्पायंतलिक्खभोमं च।
अंगसरलक्खणवंजणं च तिविहं पुणोक्केक्कं।।
सुत्तं वित्ती तह वत्तियं च पावसुयं अउणतीसविहं।
गंधव्वनट्टवत्थुं, आउं धणुवेयसंजुत्तं।।

१५. अपने पोषण करने वाले को तथा सेनापति और प्रशास्ता को मारना।
१६. राष्ट्र के नायक तथा प्रचुर यशस्वी निगम-नेता श्रेष्ठी को मारना।
१७. जन-नेता तथा प्राणियों के लिए जो द्वीप (आश्वासनभूत) और त्राण हैं, ऐसे व्यक्ति को मारना।
१८. जो व्यक्ति प्रव्रज्या के लिए उपस्थित है अथवा जो प्रतिविरत (प्रव्रजित) होकर संयत और सुतपस्वी हो गया, उन्हें बरगला कर, फुसला कर या बलात् धर्म से भ्रष्ट करना।
१९. अनन्तज्ञानी और वरदर्शी अर्हत् का अवर्णवाद बोलना।
२०. द्वेषवश नैर्यातृक (मोक्ष की ओर ले जाने वाला) मार्ग के प्रतिकूल चलना तथा उसकी निन्दा के द्वारा अपनी आत्मा को भावित करना।
२१. जिन आचार्य अथवा उपाध्याय के पास श्रुत और विनय (चारित्र) की शिक्षा प्राप्त की, उन्हीं की निंदा करना।
२२. आचार्य और उपाध्याय का सम्यक् प्रकार से प्रतितर्पण (सेवा-शुश्रुषा) नहीं करना, उनकी पूजा नहीं करना और अभिमान करना।
२३. अबहुश्रुत होते हुए भी श्रुत के द्वारा अपना ख्यापन करना तथा किसी व्यक्ति द्वारा पूछे जाने पर 'बहुश्रुत मुनि के बारे में सुना है, वे आप ही हैं?' 'हां, मैं ही हूं', मैंने घोष-विशुद्धि का अभ्यास किया है, बहुत ग्रंथों का पारायण किया है– इस प्रकार स्वाध्यायवाद का निर्वचन करना।
२४. अतपस्वी होते हुए भी तपस्वी के रूप में अपना ख्यापन करना।
२५. सहकार लेने के लिए ग्लान के उपस्थित होने पर समर्थ होते हुए भी 'यह मेरी सेवा नहीं करता है' इस दृष्टि से उसका कृत्य (करणीय सेवा) न करना।
२६. सर्व तीर्थों के भेद के लिए कथा और अधिकरण का बार-बार संप्रयोग करना।
२७. श्लाघा अथवा मित्रगण के लिए अधार्मिक योग (निमित्त, वशीकरण आदि) का बार-बार संप्रयोग करना।
२८. मानुषी तथा पारलौकिक भोगों का अतृप्तभाव से आस्वादन करना।
२९. देवों की ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण और बल-वीर्य का अवर्णवाद बोलना–अपलाप करना।
३०. जिन की भांति पूजा का अर्थी होकर देव, यक्ष और गुह्यक को नहीं देखते हुए भी कहना 'मैं उन्हें देखता हूं'।

दशाश्रुतस्कंध (दशा ९) में भी इनका उल्लेख कुछ परिवर्तन के साथ प्राप्त है। प्रथम पांच स्थानों में क्रम-व्यत्यय है। जैसे– समवायांग के प्रथम पांच स्थान दशाश्रुतस्कन्ध में १, ५, २, ३, ४ के क्रम हैं।

प्रश्नव्याकरण की वृत्ति[1] तथा उत्तराध्ययन की वृत्ति[2] में भी महामोहनीय कर्मबंध की तीस प्रवृत्तियों का उल्लेख है। वे इनसे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। यत्र-तत्र भिन्नता प्रतीत होती है।

आवश्यक के वृत्तिकार ने संग्रहणीकार की पन्द्रह गाथाओं को उद्धृत कर तीस महामोहनीय कर्मबंध की प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। उनमें भाषाभेद तथा क्रमभेद अवश्य है, किन्तु भावनाओं में विशेष अन्तर नहीं है।[3]

41. इकतीस सिद्धों आदि के गुणों से (एगतीसाए सिद्धाइगुणेहिं)

आदि-गुण का अर्थ है– मुक्त होने के प्रथम क्षण में होने वाले गुण। इनकी उत्पत्ति में क्रम-भावित्व नहीं होता। ये सब युगपद् एक साथ उत्पन्न होते हैं। ये सहभावी गुण हैं।[4] समवाओ (३१/१) के अनुसार ये इकतीस इस प्रकार हैं–

१. आभिनिबोधिक ज्ञानावरण की क्षीणता
२. श्रुत ज्ञानावरण की क्षीणता
३. अवधिज्ञानावरण की क्षीणता
४. मन:पर्यव ज्ञानावरण की क्षीणता
५. केवल ज्ञानावरण की क्षीणता
६. चक्षु दर्शनावरण की क्षीणता
७. अचक्षु दर्शनावरण की क्षीणता
८. अवधि दर्शनावरण की क्षीणता
९. केवल दर्शनावरण की क्षीणता
१०. निद्रा की क्षीणता
११. निद्रा-निद्रा की क्षीणता
१२. प्रचला की क्षीणता
१३. प्रचला-प्रचला की क्षीणता
१४. स्त्यानर्द्धि की क्षीणता
१५. सातवेदनीय की क्षीणता
१६. असातवेदनीय की क्षीणता
१७. दर्शन मोहनीय की क्षीणता
१८. चरित्र मोहनीय की क्षीणता
१९. नैरयिक आयुष्य की क्षीणता
२०. तिर्यञ्च आयुष्य की क्षीणता

१. प्रश्नव्याकरण वृत्ति, पत्र-८६,८७
२. उत्तराध्ययन वृत्ति, पत्र ६१७, ६१८
३. आ.ह्रा. वृ. (द्वि) पृ. ११४, ११५
४. वही, पृ. ११५–सिद्धः आदौ गुणा आदिगुणाः सिद्धस्यादिगुणाः सिद्धादिगुणाः युगपद्भाविनो न क्रमभाविन इत्यर्थः।

२१. मनुष्य आयुष्य की क्षीणता
२२. देव आयुष्य की क्षीणता
२३. उच्च गोत्र की क्षीणता
२४. नीच गोत्र की क्षीणता
२५. शुभनाम की क्षीणता
२६. अशुभनाम की क्षीणता
२७. दानान्तराय की क्षीणता
२८. लाभान्तराय की क्षीणता
२९. भोगान्तराय की क्षीणता
३०. उपभोगान्तराय की क्षीणता
३१. वीर्यान्तराय की क्षीणता।

ये इकतीस गुण आठ कर्मों के क्षय के आधार पर संगृहीत हैं–

१. ज्ञानावरण कर्म के क्षय से निष्पन्न ५ गुण (१-५)
२. दर्शनावरण कर्म के क्षय से निष्पन्न ९ गुण (६-१४)
३. वेदनीय कर्म के क्षय से निष्पन्न २ गुण (१५-१६)
४. मोहनीय कर्म के क्षय से निष्पन्न २ गुण (१७-१८)
५. आयुष्य कर्म के क्षय से निष्पन्न ४ गुण (१९-२२)
६. गोत्र कर्म के क्षय से निष्पन्न २ गुण (२३-२४)
७. नाम कर्म के क्षय से निष्पन्न २ गुण (२५-२६)
८. अन्तराय कर्म के क्षय से निष्पन्न ५ गुण (२७-३१)

सिद्धों के इकतीस गुणों का निर्देश दो प्रकार से प्राप्त होता है। प्रस्तुत इकतीस गुणों का यह पहला प्रकार है।

दूसरे प्रकार के निर्देश के अनुसार इकतीस गुण ये हैं[1]–

१-५ संस्थान के पांच– न परिमंडल, न वृत्त, न त्रिकोण, न चतुष्कोण और न आयत।

६-१० वर्ण के पांच– न कृष्ण, न नील, न लाल, न पीत और न शुक्ल।

११-१२. गंध के दो– न सुगंध और न दुर्गंध।

१३-१७. रस के पांच– न तिक्त, न कटु, न कषाय, न अम्ल और न मधुर।

१८-२५. स्पर्श के आठ– न कर्कश, न मृदु, न गुरु, न लघु, न शीत, न उष्ण, न स्निग्ध और न रुक्ष।

२६-२८. वेद के तीन– न स्त्रीवेद, न पुरुषवेद और न नपुंसकवेद।

२९-३१. न शरीरवान्, न जन्मधर्मा और न लेपयुक्त।

आवश्यक चूर्णि[2] तथा वृत्ति[3] में मुख्य रूप से शब्द, रूप आदि के आधार पर इकतीस गुणों का विभाजन किया है। वैकल्पिक रूप से कर्मक्षय के आधार पर निष्पन्न होने वाले इकतीस गुणों का आकलन किया है।

42. बत्तीस योगसंग्रहों से (बत्तीसाए जोगसंगहेहिं)

जैन परम्परा में 'योग' का एक अर्थ है– मन, वचन और काया की प्रवृत्ति। इसका दूसरा अर्थ है– समाधि। प्रस्तुत प्रसंग में प्रशस्त बत्तीस योगों का संग्रहण किया गया है। ये सब समाधि के कारणभूत हैं। समवायांग[4] के अनुसार बत्तीस योग-संग्रह ये हैं–

१. आलोचना– अपने प्रमाद का निवेदन करना।

२. निरपलाप– आलोचित प्रमाद का प्रकटीकरण।

३. आपत्काल में दृढधर्मता– किसी भी प्रकार की आपत्ति में दृढधर्मी बने रहना।

४. अनिश्रितोपधान– दूसरों की सहायता लिए बिना तपःकर्म करना।

५. शिक्षा– सूत्रार्थ का पठन-पाठन तथा क्रिया का आचरण।

६. निष्प्रतिकर्मता– शरीर की सार-संभाल या चिकित्सा का वर्जन।

७. अज्ञातता– अज्ञात रूप में तप करना, उसका प्रदर्शन या प्रख्यापन नहीं करना।

८. अलोभ– निर्लोभता का अभ्यास करना।

९. तितिक्षा– कष्टसहिष्णुता, परीषहों पर विजय पाने का अभ्यास करना।

१०. आर्जव– सरलता।

११. शुचि– पवित्रता, सत्य, संयम आदि का आचरण।

१२. सम्यग्दृष्टि– सम्यग्दर्शन की शुद्धि।

१३. समाधि– चित्तस्वास्थ्य।

१४. आचार– आचार का सम्यक् प्रकार से पालन करना, उसमें माया न करना।

१५. विनयोपग– विनम्र होना, अभिमान न करना।

१६. धृतिमति– धैर्ययुक्त बुद्धि, अदीनता।

१७. संवेग– संसार-वैराग्य अथवा मोक्ष की अभिलाषा।

१८. प्रणिधि– अध्यवसाय की तीव्रता। आवश्यक के चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ माया किया है। उनके अनुसार प्रणिधि के दो प्रकार हैं– द्रव्य प्रणिधि और भाव प्रणिधि। उन्होंने द्रव्य प्रणिधि में नभोवाहन और शालवाहन का तथा भाव प्रणिधि में जिनदेव आचार्य का कथानक प्रस्तुत किया है।[5]

समवायांग के वृत्तिकार ने प्रणिधि का अर्थ मायाशल्य किया है।[6]

---

१. आ.चू. (द्वि), पृ. १५१,१५२
२. वही, पृ. १५१
३. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. ११५
४. समवाओ, ३२/१
५. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. २००, २०१
   (ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १४८, १४९
६. समवायांगवृत्ति, पत्र-५५– 'पणिहि' त्ति प्रणिधिः– मायाशल्यम्।

प्रणिधि का एक अर्थ है– समाधि या एकाग्रता।[1] सर्वात्मना जो अध्यवसाय होता है वह प्रणिधि है।[2] इन सन्दर्भों में 'प्रणिधि' का अर्थ होता है– अध्यवसाय की एकाग्रता।

१९. सुविधि– सद् अनुष्ठान।

२०. संवर– आस्रवों का निरोध।

२१. आत्मदोषोपसंहार– अपने दोषों का उपसंहरण।

२२. सर्वकामविरक्तता– समस्त विषयों से विमुखता।

२३. प्रत्याख्यान– मूलगुण विषयक त्याग।

२४. प्रत्याख्यान– उत्तरगुण विषयक त्याग।

२५. व्युत्सर्ग– शरीर, भक्तपान, उपधि तथा कषाय का विसर्जन।

२६. अप्रमाद– प्रमाद का वर्जन।

२७. लवालव– सामाचारी के पालन में सतत जागरूक रहना। 'लव' शब्द कालवाची है। इसका अर्थ है– क्षण। 'लवालव' अर्थात् प्रतिक्षण अप्रमत्त रहना। 'लवालव' की साधना यथालंदक मुनि करते हैं। वे क्षण भर के लिए प्रमाद नहीं करते। वृत्तिकार ने मुनि विजय का उदाहरण प्रस्तुत किया है। उसने प्रतिकूल स्थिति में भी अपने आचार के पालन में प्रमाद नहीं किया। प्रतिक्षण जागरूक रहा। उसने ओघ समाचारी तथा चक्रवाल समाचारी का पूरा पालन किया। वह प्रतिपल चिंतन करता– किं मे कडं किं च मे किच्चसेसं– मैंने क्या किया और मेरे लिए क्या करना शेष है? अकेले होते हुए भी वह पूर्ण जागरूकता से चरण-करण का पालन करता रहा।[3]

२८. ध्यान संवर योग– महाप्राण जैसे सूक्ष्म ध्यान की साधना।

आवश्यकनिर्युक्ति में इसका अर्थ 'सूक्ष्मध्यान'[4] तथा चूर्णि में महाप्राण जैसा सूक्ष्मध्यान किया है।[5] चूर्णि और वृत्ति में एक घटना से इसको स्पष्ट किया है–

शिम्बावर्द्धन नगर में मुंडिकाम्रक राजा राज्य करता था। बहुश्रुत आचार्य वसुभूति वहां स्थित थे। उन्होंने राजा को समझाकर अपना श्रावक बना दिया। आचार्य का बहुश्रुत शिष्य पुष्यमित्र कुछ खिन्न होकर अन्यत्र विहरण कर रहा था। एक दिन आचार्य ने सोचा– मुझे महाप्राण जैसे सूक्ष्म ध्यान में प्रवेश करना चाहिए। उसमें प्रवेश करने वाला साधक अपने योगों का इस प्रकार निरोध कर देता है कि शरीर निस्पन्दन और निश्चेष्ट हो जाता है। आचार्य के निकट रहने वाले शिष्य अगीतार्थ थे। आचार्य ने पुष्यमित्र को बुला भेजा। पुष्यमित्र आया। आचार्य ने कहा– 'मैं सूक्ष्मध्यान की साधना करना चाहता हूं। तुम उत्तरसाधक के रूप में मेरा सहयोग करना। समय पूर्ण हो जाने पर मैं स्वयं ध्यान से विरत हो जाऊंगा। ध्यान के साधना-काल तक कोई मुझे न छूए, निकट न आए। यदि आग आदि का उपद्रव हो अथवा अन्य कोई आतंक हो तो तुम मेरे दायें पैर के अंगूठे को दबाना, मैं सचेत हो जाऊंगा।' पुष्यमित्र ने आचार्य की बात स्वीकार कर ली। आचार्य एकान्त में एक अपवरक में प्रवेश कर ध्यानलीन हो गए। पुष्यमित्र द्वार पर बैठ गया। वह किसी को अपवरक में प्रवेश करने नहीं देता था। वह आगंतुकों को कहता– बाहर से ही वंदना कर लें। अभी आचार्य ध्यान-योग में व्यापृत हैं। कुछ दिन बीते। एक बार शिष्यों ने परस्पर मंत्रणा करते हुए सोचा– आचार्य को क्या हुआ है? हम गवेषणा तो करें। एक शिष्य ने अपवरक के द्वार से देखा कि आचार्य सोए हुए हैं। वह चिरकाल तक बैठा रहा। उसे प्रतीत हुआ कि आचार्य में कोई चेष्टा नहीं है। वे न बोलते हैं और न हलन-चलन करते हैं। उनके उच्छ्वास-नि:श्वास भी नहीं है। संभव है सूक्ष्म श्वासोच्छ्वास हो। वह शिष्य वहां से उठा और उसने अपने अन्य साथियों को सारी बात बताई। वे रुष्ट होकर पुष्यमित्र के पास आकर बोले–आर्य! आचार्य के कालगत हो जाने पर भी तुमने हमसे नहीं कहा। पुष्यमित्र बोला–'आचार्य कालगत नहीं हुए हैं। वे सूक्ष्मध्यान की साधना में संलग्न हैं। तुम सब व्याघात मत करो।' अन्य शिष्यों ने कहा–'यह कोई अन्यलिंगी आचार्य के पास प्रव्रजित हुआ है। यह सर्वलक्षणसम्पन्न आचार्य के देह से किसी वेताल को साध रहा है। इसलिए यह आचार्य के दिवंगत होने की बात को छिपा रहा है।' वे पुष्यमित्र के साथ झगड़ने लगे। उसने उनको रोका। तब वे राजा के पास गए। अपना सारा वृत्तान्त सुनाया और राजा को साथ लेकर उपाश्रय में आए। उन्होंने कहा– 'राजन्! आचार्य दिवंगत हो गए हैं। यह मुनि उनको बाहर निकालने नहीं दे रहा है।' राजा ने अपवरक में झांककर देखा। उसे भी विश्वास हो गया कि आचार्य कालगत हो गए हैं। राजा ने पुष्यमित्र को पूछा। उसने ध्यानसंलीनता की बात कही। राजा ने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। आचार्य को श्मशान ले जाने के लिए शिविका तैयार की गई। पुष्यमित्र ने सोचा– बात का अंतिम छोर आ गया है। अब विनाश निश्चित है। आचार्य के पूर्व निर्देश के अनुसार वह अपवरक के भीतर गया और आचार्य के अंगुष्ठ को दबाया। अंगुष्ठ के दबते ही आचार्य सचेत हुए और बोले– आर्य! साधना में व्याघात क्यों किया? वह बोला– आचार्यवर! आप देखें, इन शिष्यों के कारण व्याघात हुआ है।

---

१. अभिधानचिन्तामणिकोश, ६/१४

२. दश. चूर्णि, पृ. १८४– आयारप्पणिधी– आयारे सव्वप्पणा अज्झवसातो।

३. (क) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १५४-१५५
(ख) आ.चू. (द्वि), पृ. २०९

४. आ.नि. गा. ९०३– .....सुहुमे झाणे.....।

५. आ.चू.(द्वि) पृ. २१०–सुहुमज्झाणं पविसामि, तं महापाणसरिसयं।

उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। आचार्य ने उन शिष्यों को उलाहना दिया।[1]

२९. मारणान्तिक उदय– मारणान्तिक वेदना का उदय होने पर भी क्षुब्ध न होना, शांत और प्रसन्न रहना।

३०. संग-परिज्ञा– आसक्ति का त्याग।

३१. प्रायश्चित्तकरण– दोष-विशुद्धि का अनुष्ठान करना।

३२. मारणान्तिक आराधना– मृत्युकाल में आराधना करना।

आवश्यक की चूर्णि और वृत्ति में प्रत्येक योग-संग्रह पर कथानक का उल्लेख है। कथाएं संक्षिप्त भी हैं और विस्तृत भी। हम केवल उन कथाओं की नोंध मात्र प्रस्तुत कर रहे हैं। वह इस प्रकार है–

योगसंग्रह	**उदाहरण**
आलोचना	अट्टण मल्ल
निरपलाप	राजा दन्तवक्र
आपत्काल में दृढधर्मिता	मुनि धर्मघोष
अनिश्रितोपधान	आर्य महागिरि, अवन्ति सुकुमाल
शिक्षा	अभयकुमार, स्थूलिभद्र
निष्प्रतिकर्मिता	श्रेष्ठी नागवसु
अज्ञातता	अवन्तिसेन
अलोभ	क्षुद्रककुमार
तितिक्षा	राजा इंद्रदत्त और उसके बाईस पुत्र
आर्जव	अंग ऋषि
शुचि	श्रेष्ठी धनंजय
सम्यग् दृष्टि	चित्रकार विमल और प्रभास
समाधि	मुनि सुव्रत
आचार	ब्राह्मणपुत्र ज्वलन और दहन
विनयोपग	ब्राह्मण अंब ऋषि
धृतिमति	राजा पंडुसेन
संवेग	धनमित्र सार्थवाह का पुत्र सुजात
प्रणिधि– द्रव्य प्रणिधि	राजा नभोवाहन और शालवाहन
भाव प्रणिधि	जिनदेव आचार्य
सुविधि	वानरयूथपति
संवर	आर्याश्री
आत्मदोषोपसंहार	श्रेष्ठी अर्हमित्र का पुत्र जिनदेव
सर्वकामविरक्तता	राजा देविलासक्त
प्रत्याख्यान (मूलगुण)	श्रावक जिनदेव
प्रत्याख्यान (उत्तरगुण)	मुनि धर्मघोष और धर्मयश
व्युत्सर्ग	करकंडु
अप्रमाद	गणिका मगधश्री
लवालव	मुनि विजय
ध्यान संवर योग	आचार्य वसुभूति
मारणान्तिक उदय	मुनि धर्मरुचि
संग परिज्ञा	सार्थवाह जिनदेव
प्रायश्चित्तकरण	आचार्य धनगुप्त
मारणान्तिक आराधना	मरुदेवा

कथाओं की विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य– आवश्यक चूर्णि (द्वितीय भाग) पृष्ठ १५२ से २१२ तथा आवश्यक, हारिभद्रीया वृत्ति २, पृ. ११७-१५६)

चूर्णिकार ने बत्तीस योगसंग्रहों को दो प्रकार से प्रस्तुत किया है– पहला प्रकार है आलोचना आदि। दूसरा प्रकार है– सोलह प्रकार धर्मध्यान के तथा सोलह प्रकार के शुक्ल ध्यान।[2]

धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान के सोलह-सोलह प्रकार के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य टिप्पण नं. ११

43. तेतीस आशातनाओं से (तेत्तीसाए आसायणाहिं)

आशातना का निरुक्तगत अर्थ है– आयस्य शातना– आशातना। आय का अर्थ है– सम्यग् दर्शन आदि की प्राप्ति और शातना का अर्थ है– नाश। जो आय का नाश करती है, वह है– आशातना।[3] वे तेतीस हैं–

१. अरहन्तों की आशातना।
२. सिद्धों की आशातना।
३. आचार्यों की आशातना।
४. उपाध्यायों की आशातना।
५. साधुओं की आशातना।
६. साध्वियों की आशातना।
७. श्रावकों की आशातना।
८. श्राविकाओं की आशातना।
९. देवताओं की आशातना।
१०. देवियों की आशातना।
११. इहलोक की आशातना।
१२. परलोक की आशातना।
१३. केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आशातना।
१४. देव, मनुष्य और असुरों की आशातना।
१५. सभी प्राण, भूत, जीव और सत्वों की आशातना।
१६. काल की आशातना।

---

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. २१०
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १५५

२. आ.चू. (द्वि) पृ. १५२– ते य इमे बत्तीसं जोगसंगहा-धम्मो सोलसविधं एवं सुक्कं पि, एते बत्तीसं जोगाणं संगहहेतू, अहवा आलोयणादि इमे बत्तीसं संगहजोगा।

३. समवायांगवृत्ति, पत्र ५६– आय: सम्यग्दर्शनाद्यवाप्तिलक्षणस्तस्य शातना– खण्डनं निरुक्तादाशातना।

१७. श्रुत की आशातना।
१८. श्रुतदेवता की आशातना।
१९. वाचनाचार्य की आशातना।
२०. श्रुत की विपर्यस्तता।
२१. मूलपाठ में अन्य पाठ का मिश्रण करना।
२२. अक्षरों की न्यूनता करना।
२३. अक्षरों का आधिक्य करना।
२४. पदों की न्यूनता करना।
२५. विराम रहित पढना।
२६. घोषरहित पढ़ना।
२७. संबंधरहित पढ़ना।
२८. ज्ञान को विधिवत् न लेना।
२९. ज्ञान को गलत तरह से ग्रहण करना।
३०. अकाल में स्वाध्याय करना।
३१. उपयुक्त काल में स्वाध्याय न करना।
३२. अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करना।
३३. स्वाध्यायिक में स्वाध्याय न करना।

समवायांग (३३/१) तथा दशाश्रुतस्कंध (दशा ३) में तेतीस आशातनाएं भिन्न रूप से उल्लिखित हैं–

१. रात्निक (पर्याय ज्येष्ठ) मुनि से सटकर चलना।
२. रात्निक मुनि से आगे चलना।
३. रात्निक मुनि के समपार्श्व में चलना।
४. रात्निक मुनि से सटकर खड़ा होना।
५. रात्निक मुनि से आगे खड़ा होना।
६. रात्निक मुनि के समपार्श्व में खड़ा होना।
७. रात्निक मुनि से सटकर बैठना।
८. रात्निक मुनि से आगे बैठना।
९. रात्निक मुनि के समपार्श्व में बैठना।
१०. रात्निक मुनि के साथ विचार-भूमि (शौच भूमि) जाने पर (एक ही पात्र में पानी हो तो) पहले आचमन करना।
११. रात्निक मुनि के साथ बाह्य विहार-भूमि (स्वाध्याय भूमि) और विचार-भूमि जाने पर गमनागमन विषयक आलोचना पहले करना।
१२. रात्रि या विकाल में रात्निक मुनि द्वारा यह पूछे जाने पर कि–आर्य! कौन सो रहा है? कौन जाग रहा है? जागते हुए भी सुना-अनसुना करना।
१३. रात्निक को किसी से कोई बात कहनी हो, उस बात को पहले ही कह देना।
१४. अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य लाकर पहले शैक्षतर के सामने उसकी आलोचना करता है, फिर रात्निक मुनि के सामने।
१५. अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य लाकर पहले शैक्षतर को दिखाना।
१६. अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य लाकर पहले शैक्षतर को निमन्त्रित करना।
१७. रात्निक मुनि के साथ अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य लाकर, रात्निक मुनि को पूछे बिना ही जिस-किसी को प्रचुर मात्रा में आहार देना।
१८. अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य लाकर रात्निक मुनि के साथ खाता हुआ मनोज्ञ आहार स्वयं प्रचुर मात्रा में खा लेना।
१९. रात्निक मुनि के वचन को अनसुना कर देना।
२०. रात्निक मुनि के सामने उद्धततापूर्वक बोलना।
२१. रात्निक मुनि को 'क्या है', इस प्रकार कहना।
२२. रात्निक मुनि को 'तू' कहना।
२३. रात्निक मुनि जो कहे उसी को प्रत्युत्तर में कहना।
२४. रात्निक मुनि की धर्मकथा का अनुमोदन नहीं करना।
२५. रात्निक मुनि को धर्मकथा करते समय 'आपको यह याद नहीं है'– ऐसे कहना।
२६. रात्निक मुनि द्वारा की जा रही धर्मकथा का विच्छेद करना।
२७. धर्मकथा करते समय रात्निक की सभा में भेद डालना।
२८. रात्निक मुनि धर्मकथा कर रहे हैं, सभा व्यवस्थित है, अभी उठी नहीं है, उस सभा में दूसरी बार वही धर्म कथा करना।
२९. रात्निक मुनि के शय्या, संस्तारक का पैरों से संघट्टन कर रात्निक मुनि को अनुज्ञापित नहीं करना।
३०. रात्निक मुनि के शय्या, संस्तारक पर खड़ा होना, बैठना अथवा सोना।
३१. रात्निक मुनि से ऊंचे आसन पर खड़ा होना, बैठना अथवा सोना।
३२. रात्निक मुनि के बराबर आसन पर खड़ा होना, बैठना अथवा सोना।
३३. रात्निक मुनि के कुछ कहने पर अपने आसन पर बैठे-बैठे ही उसे स्वीकार करना।

अरिहंतों आदि की आशातना के विषय में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। उसका संक्षेप इस प्रकार है[1]–

अर्हत् की आशातना– अर्हत् नहीं हैं। प्रव्रज्या से पूर्व तीन ज्ञान से सम्पन्न (मति, श्रुत, अवधि) होते हुए भी वे भोगों का आसेवन करते हैं। यह क्यों? इस प्रकार कहने से अर्हत् की आशातना होती है।

सिद्ध की आशातना– सिद्ध नहीं हैं। वे निश्चेष्ट हैं। उपयोग

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. २१५, २१६ (ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १५९ से १६१

होने पर उनमें राग-द्वेष होना चाहिए। इस प्रकार कहने से सिद्ध की आशातना होती है।

आचार्य की आशातना– ये बालक, अकुलीन, दुर्मेधा, द्रमक, मंदबुद्धि और स्वलाभ में बुद्धि रखने वाले है। ये दूसरों को वैयावृत्य करने का उपदेश देते हैं किन्तु स्वयं वैयावृत्य नहीं करते हैं। इस प्रकार कहने से आचार्य की आशातना होती है।

उपाध्याय की आशातना– उपाध्याय की आशातना उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार आचार्य की।

साधु की आशातना– ये साधु असहनशील, त्वरितगति वाले हैं। ये भांडों को मुंडित करते हैं। ये प्राणियों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) की तरह एक साथ भोजन करते हैं। ये विरूपवेषधारी हैं। इस प्रकार कहने से साधुओं की आशातना होती है।

साध्वी की आशातना– ये साध्वियां झगड़ा करती हैं, बहुत उपकरण रखती हैं अथवा साधुओं के लिए ये उसी प्रकार उपद्रवरूप हैं, जिस प्रकार गणिकाओं के लिए संतान, वृक्ष के लिए वल्ली और जल के लिए सेवाल। इस प्रकार कहने से साध्वियों की आशातना होती है।

श्रावक, श्राविका की आशातना– मनुष्य जन्म को पाकर तथा जिनमत को जानकर भी ये विरति (संयम जीवन) को स्वीकार नहीं करते हैं तब कैसे धन्य हैं। इस प्रकार कहने से श्रावक और श्राविकाओं की आशातना होती है।

देव-देवियों की आशातना– ये देव कामासक्त, विरतिरहित, अनिमिषनयन और निश्चेष्ट हैं। समर्थ होते हुए भी ये तीर्थ की उन्नति नहीं करते हैं। इस प्रकार कहने से देव और देवियों की आशातना होती है।

इहलोक, परलोक की आशातना– वितथ प्ररूपणा करने से इहलोक (मनुष्य लोक) तथा परलोक (नारक, तिर्यंच, देव) की आशातना होती है।

केवलिप्रज्ञप्त धर्म की आशातना– प्राकृत भाषा में निबद्ध सूत्रों की रचना किसने की है, यह कौन जानता है? चारित्र से क्या? दान के बिना भी निर्वाण प्राप्त होता है। इस प्रकार कहने से केवलिप्रज्ञप्त धर्म (श्रुत धर्म और चारित्र धर्म) की आशातना होती है।

देव-मनुष्य-असुर लोक की आशातना– देवलोक, मनुष्य-लोक, असुरलोक की विपरीत प्ररूपणा करने से आशातना होती है, जैसे– यह पृथ्वी सात द्वीप और सात समुद्र तक है। इसके आगे कुछ नहीं है। मनुष्य लोक को भी ब्रह्मा ने बनाया है या प्रकृति और पुरुष के संयोग से यह सृष्टि बनी है आदि।

प्राण, भूत, जीव, सत्व की आशातना– द्वीन्द्रिय आदि प्राण, पृथ्वीकाय आदि भूत, पञ्चेन्द्रिय आदि जीव तथा शेष सभी सत्व कहलाते हैं। इनकी आशातना इस प्रकार कहने से होती है– स्पन्दन आदि के अभाव में पृथ्वी आदि तो जीव है ही नहीं। जीव क्षणिक है। संसारी जीव अंगूठे के पर्व जितने हैं। मुक्त जीव नहीं है आदि।

काल की आशातना, श्रुत की आशातना– यदि ज्ञान मोक्ष का हेतु है तो फिर उसके लिए काल और अकाल क्या है? जैसे रोग और मलिन वस्त्र धोने का कोई काल (समय) नहीं है। इस प्रकार कहने से काल एवं श्रुत की आशातना होती है।

श्रुतदेवता की आशातना– जिसमें श्रुत अधिष्ठित है, वह श्रुतदेवता है। श्रुतदेवता नहीं है अथवा वह अकिंचित्कर है, ऐसा कहने से उसकी आशातना होती है।

वाचनाचार्य की आशातना– जो उपाध्याय द्वारा निर्दिष्ट होता है तथा उद्देश आदि करता है, वह वाचनाचार्य है। वाचनाचार्य सुख, दुःख रहित होकर अनेक बार वंदना दिलवाता है। ऐसा कहने से उसकी आशातना होती है।

मूलाचार में आशातना के स्थान पर अत्याशना या आशना का प्रयोग मिलता है। इसमें तेतीस अत्याशनाएं ये हैं–पांच अस्तिकाय, छह जीव निकाय, पांच महाव्रत, आठ प्रवचनमाताएं और नौ तत्त्व–इन तेतीस तत्त्वों के प्रति अविनय करना 'आशना' है।[१]

44. अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय किया हो (असज्झाइए सज्झाइयं)

जैन परम्परा में अस्वाध्याय के वातावरण में स्वाध्याय करने का निषेध है। श्रुत का स्वाध्याय अमुक-अमुक काल और अमुक-अमुक स्थान में करने का ही निर्देश हे। अस्वाध्यायिक के दो प्रकार हैं– आत्म-समुत्थित और पर-समुत्थित। अपने शरीर के व्रण आदि से रक्त झरना आत्म-समुत्थित अस्वाध्यायिक है। पर-समुत्थित अस्वाध्यायिक के पांच प्रकार हैं–

१. संयमघाती
२. औत्पातिक
३. देवप्रयुक्त
४. व्युद्ग्रह
५. शरीरसंबंधी।

अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करना ज्ञान का अतिचार है। इसके निषेध के अनेक कारण हैं। उसमें मुख्य ये हैं–

१. श्रुतज्ञान की अभक्ति।
२. लोकविरुद्ध व्यवहार।
३. अप्रमत्त छलना।
४. विद्या साधन का वैगुण्य– किसी भी विद्या का सिद्ध न होना।

---

१. मूलाचार, २/५४–

पंच वे अत्थिकाया, छज्जीवनिकाय महव्वया पंच।
पवयणमाउ पयत्था, तेतीसच्चासणा भणिया।।

५. धर्मता– श्रुतज्ञान के आचार की विराधना।

६. उड्डाह और अप्रीति।[1]

निर्युक्तिकार ने अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय करने से निम्न दोषों की उद्भावना की है–

उन्माद, चिरकालिक रोग, आशुघाती आतंक, तीर्थंकर भाषित धर्म से च्युति, मिथ्यादृष्टि हो जाना अथवा चारित्र से भ्रष्ट हो जाना।[2]

अस्वाध्यायिक श्रुतज्ञानाचार के विपरीत आचरण है। इससे ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। इससे पूर्ण विधि सहित आराधित विद्याएं भी फल नहीं देती। यह श्रुत की आशातना है। इससे आठ कर्मों का बंध होता है। जो ह्रस्वस्थिति वाले कर्म हैं, उनको दीर्घस्थिति वाला कर देता है तथा जो मंद अनुभाव वाले कर्म हैं उन्हें तीव्र अनुभाव वाले अथवा अल्प प्रदेश वालों को बहुत प्रदेश वाला बना देता है। ऐसा करने वाला दीर्घकाल तक संसार-भ्रमण करता है। ज्ञानाचार की विराधना से दर्शनाचार की विराधना होती है तथा ज्ञान और दर्शन के आचार की विराधना से चारित्राचार की विराधना होती है। इन तीन प्रकार की विराधनाएं होने पर मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।[3]

प्राचीन मान्यता के अनुसार अस्वाध्यायिक के ये प्रकार हैं– गांव के मुखिया की मृत्यु हो जाने पर, युद्ध आदि के अवसर पर, कुहासा आदि के गिरने पर, उल्कापात, दिग्दाह, गर्जन, निर्घात आदि के होने पर, मुनि के निवास-स्थान पर या स्थान के आस पास रक्त, मांस, शव आदि के होने पर अथवा मल-मूत्र दिखने या दुर्गंध आने पर, शवस्थान के समीप होने पर, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण के समय आदि-आदि– इन अवस्थाओं में स्वाध्याय का वर्जन रहा है। इस वर्जना के अनेक हेतु हैं–

ग्राम महत्तर की मृत्यु के समय स्वाध्याय का वर्जन न करने पर लोक गर्हा करते थे– 'हमारे गांव का मुखिया चल बसा है और ये साधु पढने में लगे हुए हैं। इन्हें उसका कोई दु:ख ही नहीं है।' इस लोकगर्हा से बचने के लिए ऐसे प्रसंगों पर स्वाध्याय का वर्जन किया जाता था।

इसी प्रकार युद्ध आदि के समय भी स्वाध्याय का वर्जन न करने पर लोक उड्डाह (अपवाद) करते थे– 'हमारे शिर पर आपदाओं के पहाड़ टूट रहे हैं, पर ये साधु अपनी पढाई में लीन हैं।' इस उड्डाह से बचने के लिए भी स्वाध्याय का वर्जन किया जाता था।

भाष्य-निर्दिष्ट स्वाध्याय-वर्जन के कारणों का अध्ययन करने पर सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि स्वाध्याय-वर्जन के बहुत सारे कारण उस समय की प्रचलित लौकिक और अन्य साम्प्रदायिक मान्यताओं पर आधृत हैं। व्यवहार-पालन की दृष्टि से इन्हें स्वीकार किया गया है। इनमें सामयिक स्थिति की झलक अधिक है।

कुछ कारण ऐसे भी हैं, जिनका संबंध लोक-व्यवहार से नहीं है। जैसे– कुहासा गिरने पर स्वाध्याय का वर्जन अहिंसा की दृष्टि से किया गया है। कुहासा गिरने के समय सारा वातावरण अप्काय के जीवों से आक्रान्त हो जाता है। उस समय मुनि को किसी प्रकार की कायिकी और वाचिकी चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

निशीथ भाष्य में चार प्रकार के महोत्सवों का उल्लेख है।[4] इन्द्रमह, स्कंदमह, यक्षमह तथा भूतमह। इन्द्रमह आषाढी पूर्णिमा को, स्कंदमह आश्विन पूर्णिमा को, यक्षमह कार्तिक पूर्णिमा को तथा भूतमह चैत्री पूर्णिमा को मनाया जाता था। इन महोत्सव दिनों में स्वाध्याय वर्जित था। इन महोत्सवों की पूर्ति पूर्णिमा को हो जाती, परन्तु दूसरे दिन अर्थात् प्रतिपदा के दिन भी इन महोत्सवों का अवशिष्ट कार्यक्रम चलता था, इसलिए स्वाध्याय नहीं किया जाता था। निशीथ भाष्य में इसका विस्तार से वर्णन है। स्वाध्याय वर्जन का मूल आधार लोक मान्यता ही है।

स्थानांग में चार महाप्रतिपदाओं में स्वाध्याय करने का निषेध है– आषाढ़ी प्रतिपदा, इन्द्रमह प्रतिपदा, कार्तिक प्रतिपदा तथा सुग्रीष्म प्रतिपदा।[5]

वहां चार संध्याओं में भी स्वाध्याय वर्जित है[6]–

१. प्रथम संध्या– सूर्योदय से पूर्व,

२. पश्चिम संध्या– सूर्योदय के पश्चात्,

३. मध्याह्न संध्या,

४. अर्धरात्रि संध्या।

अस्वाध्यायिक के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य–

- **ठाणं, १०/२०, २१ का टिप्पण।**
- **व्यवहारभाष्य, ७/२६६-३२०,**
- **निशीथ भाष्य गाथा, ६०७४-६१७९,**
- **आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १३६५-१३७५।**

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति गा. १४०८–
सुतनाणम्मि अभत्ती, लोगविरुद्धं पमत्तछलणा य।
विज्जासाहण वइगुन्नधम्मयाए व मा कुणसु।।

२. वही, गा. १४१४–
उम्मादं च लभेज्जा, रोगातंकं च पाउणे दीहं।
तित्थगरभासिताओ, भस्सइ सो संजमातो वा।।

३. वही, गा. १४१५–
इहलोगे फलमेतं, परलोए फलं न देंति विज्जाओ।
आसायणा सुतस्स य, कुव्वइ दीहं च संसारं।।

४. निशीथ भाष्य, गा. ६१८६

५. ठाणं, ४/२५६

६. वही, ४/२५७

निग्गंथपावयणे थिरीकरण-सुत्तं

९. नमो चउवीसाए तित्थगराणं उसभादिमहावीरपज्जवसाणाणं इणमेव निग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलं पडिपुण्णं नेआउयं संसुद्धं सल्लगत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्ति-मग्गं निज्जाणमग्गं निव्वाणमग्गं अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्प-हीणमग्गं। एत्थं ठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति। तं धम्मं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि अणुपालेमि। तं धम्मं सद्दहंतो पत्तियंतो रोएंतो फासेंतो अणुपालेंतो तस्स धम्मस्स अब्भुट्ठिओमि आराहणाए, विरओमि विराहणाए–

निर्ग्रन्थप्रवचने स्थिरीकरण-सूत्रम्

नमः चतुर्विंशतये तीर्थकरेभ्यः ऋषभादि-महावीरपर्यवसानेभ्यः इदमेव नैर्ग्रन्थं प्रवचनं सत्यम् अनुत्तरं केवलं प्रतिपूर्णं नैयायिकं संशुद्धं शल्यकर्त्तनं सिद्धिमार्गः मुक्तिमार्गः निर्याणमार्गः निर्वाणमार्गः अवितथम् अविसंधि सर्वदुःखप्रहाणमार्गः। अत्र स्थिताः जीवाः सिध्यन्ति 'बुज्झंति' मुच्यन्ति परिनिर्वान्ति सर्वदुःखानाम् अन्तं कुर्वन्ति। तं धर्मं श्रद्दधे प्रत्येमि रोचे स्पृशामि अनुपालयामि। तं धर्मं श्रद्दधानः प्रतीयन् रोचमानः स्पृशन् अनुपालयन् तस्य धर्मस्य अभ्युत्थितोऽस्मि आराधनायै, विरतोऽस्मि विराधनायाः–

निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थिरीकरण सूत्र

९. ऋषभ से लेकर महावीर तक के चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार। यही निर्ग्रन्थ प्रवचन[1] सत्य, अनुत्तर, अद्वितीय, प्रतिपूर्ण, न्यायपूर्ण सर्वतः शुद्ध, शल्यकर्त्तन–शल्य काटने वाला, सिद्धि का मार्ग, मुक्ति का मार्ग, निर्याण (मोक्ष) का मार्ग, निर्वाण (शांति) का मार्ग, सत्य, अविच्छिन्न, सब दुःखों के क्षय का मार्ग, इस (निर्ग्रन्थ प्रवचन) में स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध–प्रशांत होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वृत होते हैं[2], सब दुःखों का अन्त करते हैं। मैं उस (निर्ग्रन्थ) धर्म पर श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं, रुचि करता हूं, उसका आचरण करता हूं, अनुपालन करता हूं।[3] उस (निर्ग्रन्थ) धर्म पर श्रद्धा करता हुआ, प्रतीति करता हुआ, रुचि करता हुआ, उसका आचरण करता हुआ, अनुपालन करता हुआ, उस धर्म की आराधना के लिए अभ्युत्थित होता हूं, विराधना से विरत होता हूं।

असंजमं परियाणामि, संजमं उवसंपज्जामि,	असंयमं परिजानामि संयमम् उपसंपद्ये,	असंयम[4] को छोड़ता हूं संयम को स्वीकार करता हूं। अब्रह्मचर्य को छोड़ता हूं, ब्रह्मचर्य को स्वीकार करता हूं। अकल्प्य का प्रत्याख्यान करता हूं, कल्प्य को स्वीकार करता हूं। अज्ञान को छोड़ता हूं, ज्ञान को स्वीकार करता हूं। अक्रिया– नास्तिकता को छोड़ता हूं, क्रिया– आस्तिकता को स्वीकार करता हूं, मिथ्यात्व को छोड़ता हूं, सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूं। अबोधि को छोड़ता हूं, बोधि को स्वीकार करता हूं। अमार्ग को छोड़ता हूं, मार्ग को स्वीकार करता हूं।
अबंभं परियाणामि, बंभं उवसंपज्जामि,	अब्रह्म परिजानामि ब्रह्म उपसंपद्ये	
अकप्पं परियाणामि, कप्पं उवसंपज्जामि,	अकल्पं परिजानामि, कल्पम् उपसंपद्ये,	
अण्णाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि,	अज्ञानं परिजानामि ज्ञानम् उपसंपद्ये,	
अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि,	अक्रियां परिजानामि क्रियाम् उपसंपद्ये,	
मिच्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसंपज्जामि,	मिथ्यात्वं परिजानामि सम्यक्त्वम् उपसंपद्ये,	
अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि,	अबोधिं परिजानामि, बोधिम् उपसंपद्ये,	
अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसंपज्जामि,	अमार्गं परिजानामि मार्गम् उपसंपद्ये,	
जं संभरामि जं च न संभरामि, जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि, तस्स सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स पडिक्कमामि।	यत् स्मरामि यच्च न स्मरामि, यत् प्रतिक्रामामि यच्च न प्रतिक्रामामि, तस्य सर्वस्य दैवसिकस्य अतिचारस्य प्रतिक्रामामि।	जिसकी मुझे स्मृति है, जिसकी मुझे स्मृति नहीं है, जिसका प्रतिक्रमण करता हूं, जिसका प्रतिक्रमण नहीं करता हूं, उससे संबंधित सब दैवसिक अतिचार का प्रतिक्रमण करता हूं।

समणोहं संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मो अणियाणो दिट्ठिसंपन्नो मायामोसविवज्जओ। अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पण्णरससु कम्मभूमीसु जावंति केइ साहू रयहरण-गोच्छ-पडिग्गहधरा पंचमहव्वयधरा अट्ठारस-सीलंगसहस्सधरा अक्खयायार-चरित्ता ते सव्वे सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि।	श्रमणोऽहं संयत-विरत-प्रतिहत-प्रत्याख्यातपापकर्मा अनिदानः दृष्टिसम्पन्नः मायामृषाविवर्जकः। अर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु यावन्तः केचन साधवः रजोहरण-गुच्छ-प्रतिग्रहधराः पञ्चमहाव्रत-धराः अष्टादशशीलांगसहस्रधराः अक्षता-चारचरित्राः तान् सर्वान् शिरसा मनसा मस्तकेन वन्दे।	मैं श्रमण, संयत[5], विरत-प्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्मा, अनिदान–निदान मुक्त, दृष्टि संपन्न, मायामृषा का विवर्जन करने वाला हूं। अढ़ाई द्वीप-समुद्रों[6] में, पन्द्रह कर्मभूमियों[7] में, रजोहरण, गोच्छक, पात्र को धारण करने वाले, पंच महाव्रतों के धारक[8], अठारह हजार शीलांगों के धारक[9], अक्षत आचार और चरित्र वाले जितने साधु हैं, उन सबको शिर से, मन से, मस्तक से वन्दना करता हूं।
खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे। मेत्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ।।१।।	क्षाम्यामि सर्वजीवान् सर्वे जीवाः क्षमन्तां माम्। मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।।१।।	मैं सब जीवों को क्षमा करता हूं, सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों के साथ मेरी मैत्री है, किसी के साथ मेरा वैर नहीं है।
एवमहं आलोइय, निंदिय गरिहिय दुगंछिय सम्मं। तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउवीसं।।२।।	एवं मया आलोचितं, निन्दितं गर्हितं जुगुप्सितं सम्यक्। त्रिविधेन प्रतिक्रान्तः वन्दे जिनान् चतुर्विंशतिम्।।२।।	इस प्रकार मैंने सम्यक् रूप में अतिचारों की आलोचना, निंदा, गर्हा और जुगुप्सा की है। मैं त्रिविध योग से प्रतिक्रान्त होकर चौबीस तीर्थंकरों को वन्दना करता हूं।

टिप्पण

1. निर्ग्रन्थों का प्रवचन (निग्गंथं पावयणं)

निर्ग्रन्थों का प्रवचन अर्थात् वीतराग का वचन। जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रंथियों से मुक्त होते हैं, वे निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। यह स्थिति वीतराग की होती है। प्रवचन के अनेक अर्थ हैं– तीर्थ, श्रुत, द्वादशांगी, संघ आदि। आवश्यक चूर्णि के अनुसार सामायिक से बिन्दुसारपर्यन्त श्रुत प्रवचन है।[1]

ग्रन्थकार ने निर्ग्रंथ प्रवचन की चौदह विशेषताएं प्रतिपादित की हैं–

- **सत्य है–** यथार्थ है।
- **अनुत्तर है–** यथार्थ का उत्तम निरूपक है।
- **केवल है–** अद्वितीय है, एकमात्र हितकारी है।
- **प्रतिपूर्ण है–** मोक्ष-प्राप्ति के साधनों से परिपूर्ण है।
- **नैयायिक है–** न्यायमार्ग से युक्त है।
- **संशुद्ध है–** सभी प्रकार से शुद्ध है।
- **शल्यकर्त्तन है–** माया शल्य, निदान शल्य और मिथ्यादर्शन शल्य को काटने वाला है।
- **सिद्धि मार्ग है–** प्रयोजन-सिद्धि का मार्ग है।
- **मुक्ति मार्ग है–** कर्म-बंधन से मुक्त होने का मार्ग है।
- **निर्याण मार्ग है–** ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी (सिद्धशिला) तक पहुंचाने वाला मार्ग है।
- **निर्वाण मार्ग है–** समस्त कर्म-क्षय से प्राप्त आत्यन्तिक सुख का मार्ग हे। यह परम निर्वृत्ति– आत्म स्वास्थ्य का कारण है।
- **अवितथ है–** परम सत्य है।
- **अविसंधि है–** अनादिकालीन है, अव्यवच्छिन्न अस्तित्व वाला है।
- **समस्त दुःखों के प्रहाण का मार्ग है–**समस्त संक्लेशों से विहीन मार्ग है।

2. सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वृत होते हैं, सब दुःखों का अन्त करते हैं। (सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति)

ये पांच क्रियापद हैं। निर्ग्रन्थ प्रवचन में स्थित जीवों के मुक्त होने की ये पांच अवस्थाएं हैं–

पहली अवस्था है– सिद्ध होना। जिसका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वह सिद्ध अवस्था है।

दूसरी अवस्था है– प्रशान्त होना या बुझ जाना। 'बुज्झइ' यह देशी धातु होनी चाहिए। इसका अर्थ है– बुझ जाना, शान्त हो जाना।

१. आ.चू. (द्वि) पृ. २४२– पावयणं सामाइयादिं बिंदुसारपज्जवसाणं।

तीसरी अवस्था है– कर्म-बंधन से मुक्त होना।

चौथी अवस्था है– परिनिर्वृत–निःस्पन्द गतिरहित हो जाना।

पांचवी अवस्था है– सब दुःखों का अंत कर देना।

आवश्यक वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ इस प्रकार है[1]–

सिज्झइ– सिद्ध होना। अपने प्रयोजन को सिद्ध कर देना।

बुज्झइ– बुद्ध होना, केवली होना।

मुच्चइ– समस्त कर्मसंग से मुक्त होना, भवोपग्राही कर्मों से मुक्त होना।

परिनिव्वायंति– परिनिर्वृत होना, परमसुखी होना।

सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति– शारीरिक और मानसिक दुःखों का अंत करना अर्थात् समस्त दुःखों से छुटकारा पाना।

चूर्णिकार ने दो मतान्तरों के अनुसार इनका अर्थ इस प्रकार किया है[2]–

सिज्झंति– मोहनीय कर्मक्षय के प्रयोजन को सिद्ध कर देना अथवा अणिमा आदि लब्धियों से युक्त होना।

बुज्झंति– केवली होना अथवा अतिशय बोध युक्त होना, विज्ञानयुक्त होना।

मुच्चंति– समस्त कर्मों से मुक्त होना अथवा समस्त संगों से मुक्त होना।

परिनिव्वायंति– निर्वाण को प्राप्त होना अथवा उपशान्त-प्रशान्त होना।

सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति– समस्त कर्मों का अंत करना अथवा समस्त दुःखों से रहित होना।

इन पांच क्रियापदों के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य भगवती १/४४-४७ का भाष्य।

3. श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं, रुचि करता हूं, उसका आचरण करता हूं, अनुपालन करता हूं। (सद्दहामि पत्तियामि रोएमि फासेमि अणुपालेमि)

ये पांचों क्रियापद धर्म की अनुपालना की क्रमिक अवस्थाएं हैं। पहले व्यक्ति में धर्म के प्रति सामान्य श्रद्धा होती है। फिर उसमें धर्म के प्रति प्रतीति होती है, प्रीति उत्पन्न होती है और पश्चात् रुचि। रुचि और प्रीति एक नहीं है। किसी व्यक्ति में दही के प्रति प्रीति हो सकती है, परन्तु प्रतिदिन उसके सेवन की रुचि नहीं होती। रुचि का अर्थ है– अभिलाषा का अतिरेक, आसेवन की अभिमुखता। धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न होने पर व्यक्ति उसका स्पर्श करता है, उसका आचरण करता है। फिर वह बार-बार उस धर्म का अनुपालन करता है अथवा वह यह सोचता है कि इस धर्म का अनुपालन पूर्वपुरुषों ने किया है, मैं भी इसका अनुपालन करूं।[3] अन्य आचार्यों ने इन पांचों पदों को एकार्थक भी माना है।[4]

4. मैं असंयम को छोड़ता हूं.....मार्ग को स्वीकार करता हूं। (असंजमं परियाणामि.....मग्गं उवसंपज्जामि)

धर्म की आराधना करने के लिए साधक कटिबद्ध होता है, अभ्युत्थित होता है, तब वह सर्वप्रथम सभी विराधनाओं से विरत होता है और इस प्रक्रिया में वह अनेक संकल्प करता है। प्रस्तुत सूत्र में यहां आठ संकल्प किए हैं। वे मूलगुण और उत्तरगुणों के पोषक हैं। जब तक साधक प्रतिपक्ष से विरत नहीं होता, तब तक वह पक्ष को साध नहीं सकता। इन संकल्पों में प्रतिपक्ष का परित्याग और पक्ष को स्वीकार की भावना है।

5. संयत.....प्रत्याख्यात पापकर्मा (संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खायपावकम्मो)

मैं संयत हूं– करणीय योगों में प्रयत्नपूर्वक संलग्न हूं।

मैं विरत हूं– समस्त सावद्य योगों से विरत हूं।

मैं प्रतिहतप्रत्याख्यात पापकर्मा हूं– मैंने अतीत में किए सावद्य आचार को निन्दा और गर्हा के द्वारा प्रतिहत कर दिया है तथा भविष्य में उन्हें न करने का प्रत्याख्यान कर दिया है।

संयत.....प्रत्याख्यात पापकर्मा के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक सूत्र १८ का टिप्पण।

6. अढाई द्वीप-समुद्रों में (अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु)

जंबूद्वीप, धातकीखंड और अर्धपुष्कर– ये अढाई द्वीप हैं।[5]

7. पन्द्रह कर्मभूमियों में (पण्णरससु कम्मभूमीसु)

जहां असि (तलवार आदि शस्त्र), मसि (लेखन), कृषि, वाणिज्य-व्यवसाय और शिल्प-कला आदि के द्वारा जीवन-निर्वाह किया जाए वह कर्मभूमि कहलाती है। वे पन्द्रह हैं– पांच भरत, पांच ऐरावत, पांच महाविदेह।[6]

- जम्बूद्वीप में तीन कर्मभूमि– भरत, ऐरावत, महाविदेह।
- धातकीखंड के पूर्वार्ध में तीन कर्मभूमि– भरत, ऐरावत, महाविदेह।
- धातकीखंड के पश्चिमार्ध में तीन कर्मभूमि– भरत, ऐरावत, महाविदेह।

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. १८१

२. आ.चू. (द्वि) पृ. २४२, २४३

३. (क) आ.चू. (द्वि), पृ. २४३
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. १८१

४. आ.चू (द्वि) पृ. २४३– अण्णे पुण एताणि एगट्ठाणि भणंति त्ति।

५. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. १५१– अर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु– जम्बूधातकीखण्डपुष्करार्द्धेषु।

६. (क) ठाणं, ३/३९०, ३९१– जंबूहीवे दीवे तओ कम्मभूमीओ पण्णत्ताओ, तं जहा– भरहे, एरवए, महाविदेहे। एवं–धायइसंडे दीवे पुरत्थिमद्धे जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्चत्थिमद्धे।
(ख) आहावृ. (द्वि), पृ. १५१– पञ्चदशसु कर्मभूमिषु– पञ्चभरत-पञ्चैरावतपञ्चविदेहाभिधानासु।

● अर्धपुष्करद्वीप के पूर्वार्ध में तीन कर्मभूमि– भरत, ऐरावत, महाविदेह।

● अर्धपुष्करद्वीप के पश्चिमार्ध में तीन कर्मभूमि– भरत, ऐरावत, महाविदेह।

8. अठारह हजार शीलांगों के धारक (अट्ठारससीलंगसहस्सधरा)

अठारह हजार शीलांगों की निष्पत्ति इस प्रकार होती है–

जे णो करेंति मणसा, णिज्जिय आहारसन्ना सोइंदिये।
पुढविकायारंभं, खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे।।

इस प्रथम गाथा में 'खंतिजुत्ते' शब्द है। दूसरी गाथा में 'मुत्ति जुत्ते' शब्द आएगा, शेष ज्यों का त्यों रहेगा। तीसरे में 'अज्जव जुत्ते' आएगा। इस प्रकार दस गाथाओं में दस धर्मों के नाम आएंगे। फिर ग्यारहवीं गाथा में 'पुढवि' के स्थान पर 'आउ' शब्द आएगा। पुढवि के साथ दस धर्मों का परिवर्तन हुआ था, उसी प्रकार 'आउ' शब्द के साथ भी होगा। फिर 'आउ' के स्थान पर क्रमशः 'तेउ', 'वाउ', 'वणस्सइ', 'बेइंदिय', 'तेइंदिय', 'चतुरिंदिय', 'पंचेंदिय' और 'अजीव' ये शब्द आएंगे। प्रत्येक के साथ दस धर्मों का परिवर्तन होने से (१०×१०) एक सौ गाथाएं हो जाएंगी। १०१वीं गाथा में 'सोइंदिय' के स्थान पर 'चक्खुरिंदिय' शब्द आएगा। इस प्रकार पांच इन्द्रियों की (१००×५) पांच सौ गाथाएं होंगी। फिर ५०१ में 'आहारसन्ना' के स्थान पर 'भयसन्ना', फिर 'मेहुणसन्ना', फिर 'परिग्गहसन्ना' शब्द आएंगे। एक संज्ञा के ५०० होने से ४ संज्ञा के (५००×४) २००० होंगे। फिर 'मणसा' शब्द का परिवर्तन होगा। 'मणसा' के स्थान पर 'वयसा' फिर 'कायसा' आएगा। एक-एक का २००० होने से तीन कार्यों के (२०००×३) ६००० होंगे। फिर 'करंति' शब्द में परिवर्तन होगा। 'करंति' के स्थान पर 'कारयंति' और 'समणुजाणंति' शब्द आएंगे। एक-एक के ६००० होने से तीनों के (६०००×३) १८००० हो जाएंगे। इस प्रकार विकल्पों के आधार पर शील के १८००० अंग हो जाते हैं।[१]

शीलांग के विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य दशवैकालिक ८/४० का टिप्पण।

१. आ.हा.वृ. (द्वि.) पृ. १८२

पंचमं अज्झयणं : पांचवां अध्याय

काउस्सग्गो : कायोत्सर्ग

आमुख

जैन योग परम्परा में कायोत्सर्ग पर अधिक बल दिया है। कायोत्सर्ग मुनि जीवन का अभिन्न अंग है। मुनि अपने स्थान से एक किलोमीटर या अधिक जाए-आए, तो सबसे पहले उसे कायोत्सर्ग करना होता है। भिक्षा या शौच के लिए जाए, तो आते ही सबसे पहले कायोत्सर्ग करना अनिवार्य है। सोकर उठे तो उठते ही कायोत्सर्ग करे। नींद में कोई दुःस्वप्नआ जाए, तो तत्काल उठकर कायोत्सर्ग करे।

भगवान से पूछा गया–भंते! कायोत्सर्ग से जीव क्या प्राप्त करता है? कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान केप्रायश्चित्तोचित कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भारवाहक की भांति स्वस्थ हृदय वाला-हल्का हो जाता है और प्रशस्त ध्यान में लीन होकर सुखपूर्वक विहार करता है।[१]

कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है–काया का उत्सर्ग।

उत्सर्ग के पर्यायवाची शब्द ग्यारह हैं–उत्सर्ग, व्युत्सर्जन, उज्झन, अवकिरण, छर्दन, विवेक, वर्जन, त्यजन, उन्मोजना, परिशातना, शातना।[२]

कायोत्सर्ग का अर्थ है–शारीरिक प्रवृत्ति और ममत्व का विसर्जन। इसका प्रयोग औषधि के रूप में होता है। चारित्र आत्मा को एक शरीर से उपमित किया जाए तो चारित्र विघटक क्रियाएं शरीर में व्रण के समान हैं। व्रण–घाव भरने के लिए औषधि रूप कायोत्सर्ग का उपयोग होता है। प्राचीन काल में प्रायश्चित्त विधि में कायोत्सर्ग प्राप्त होता था। निष्प्रकम्प शरीर, मौन भाव और एकाग्र मन से अतिचारों का सम्यग् बोध हो जाता है। जैसे करोत से काठ कट जाता है वैसे ही कायोत्सर्ग से कर्म पुद्गलों को आत्मा से दूर हटाया जा सकता है। कायोत्सर्ग अध्ययन का अर्थाधिकार है–व्रण चिकित्सा।[३]

निर्युक्तिकार ने कायोत्सर्ग के दो प्रकार किए हैं–

१. चेष्टा–भिक्षा चर्या आदि की प्रवृत्ति के पश्चात् कायोत्सर्ग करना।

२. अभिभव–प्राप्त उपसर्गों को सहन करने के लिए कायोत्सर्ग करना।[४]

कायोत्सर्ग सूत्र में कायोत्सर्ग क्यों करना चाहिए तथा कैसे करना चाहिए? इसका स्पष्ट विवेचन है। तथा इसमें क्या-क्या अपवाद है जिनसे कायोत्सर्ग अभग्न एवं अविराधित रहता है। प्रतिक्रमण आवश्यक पूर्ण होने पर जो प्रमाद दृष्टिगोचर होत है, उन प्रमाद रूपी अतिचारों को नष्ट करने के लिए, संयम जीवन को अधिकाधिक परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशोधि करने के लिए, शल्य से मुक्त होने के लिए, पाप कर्मों को विनष्ट करने के लिए, कायोत्सर्ग किया जाता है।[५]

आवश्यक निर्युक्ति में कायोत्सर्ग के इक्कीस दोष निर्दिष्ट हैं–

१. घोटक–अश्व की भांति पैरों को विषम स्थिति में रखकर कायोत्सर्ग करना।

२. लता–हवा से प्रेरित लता की भांति प्रकम्पित होकर कायोत्सर्ग करना।

---

१. उत्तराध्ययन २९/१३

२. आ. नि. गा. १४५१
उस्सग्ग विउस्सरणुज्झणा य अवकिरण छड्डुण विवेगो।
वज्जण चयणुम्मुयणा परिसाडण- साडणा चेव।।

३. अनुयोगद्वार पृ. ७०

४. आ.नि. गा. १४५२–
सो उस्सग्गो दुविधो, चिट्ठाए अभिभवे य नातव्वो।
भिक्खायरियाइ पढमो, उवसग्गऽभिजुंजणे बितिओ।।

५. आवश्यक ५/३

६. आ.नि. गा. १५४६,१५४७
घोडग लता य खंभे, कुड्डे माले य सबरि बहु नियले।
लंबुत्तर थण उद्धी, संजुइ खलिणे य वायस कविट्ठे।।
सीसुक्कंपिय मूई, अंगुलिभमुहा य वारुणी पेहा।....

३. स्तम्भ–खम्भे का सहारा लेकर कायोत्सर्ग करना।

४. कुड्य–दीवार का सहारा लेकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

५. माल–ऊपर की छत से सिर को सटाकर कायोत्सर्ग करना।

६. शबरी–नग्न भीलनी की भांति अपने गुह्य प्रदेश को हाथ से ढ़ककर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

७. बहू–कुलवधू की भांति शिर को नमाकर कायोत्सर्ग करना।

८. निगड़–पैरों को सटाकर या चौड़ा करके खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

९. लम्बोत्तर–चोलपट्ट को नाभि के ऊपर बांधकर नीचे घुटनों तक रखकर कायोत्सर्ग करना।

१०. स्तनदृष्टि–दंश मशक से बचने अथवा अज्ञान से चोलपट्ट को स्तनों तक बांधकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना।

११. उद्धि–यह दोष दो प्रकार से होता है। एड़ियों को सटाकर, पंजों को फैलाकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना बाह्य उद्धिका तथा दोनों पैरों के अंगूठे को सटाकर, एड़ियों को फैलाकर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना आभ्यन्तरिका उद्धिका है।

१२. संयती–सूती कपड़े या कम्बल से शरीर को साध्वी की भांति ढककर कायोत्सर्ग करना।

१३. खलीन–रजोहरण को आगे करके खड़े-खड़े कायोत्सर्ग करना।

१४. वायस–काक की भांति दृष्टि को घुमाते हुए कायोत्सर्ग करना।

१५. कपित्थ–जूं आदि के भय से गोलाकार कपड़ा जंघाओं के बीच रखकर कायोत्सर्ग करना।

१६. शीष-प्रकंपन–यक्षाविष्ट व्यक्ति की भांति शिर को धुनते हुए कायोत्सर्ग करना।

१७. मूक–बिना बोले हूं हूं शब्द करते हुए कायोत्सर्ग करना।

१८. अंगुलि–आलापकों को गिनने के लिए अंगुलियों को चलित करते हुए कायोत्सर्ग करना।

१९. भ्रू–भौहों को नचाते हुए कायोत्सर्ग करना।

२०. वारुणी–मदिरा की भांति बुदबुदाते हुए कायोत्सर्ग करना।

२१. प्रेक्षा–बंदर की भांति होठों को चालित करते हुए कायोत्सर्ग करना।

मूलाचार[1] तथा कार्तिकेय अनुप्रेक्षा की टीका में कायोत्सर्ग के निम्न ३२ दोष मिलते हैं। इनमें अधिकांश दोष आवश्यक निर्युक्ति से मिलते हैं। कुछ अतिरिक्त दोष भी हैं–१. घोटकपाद, २. लतावक्र, ३. स्तम्भावष्टम्भ, ४. कुड्याश्रित, ५. मालिकोद्वहन, ६. शबरीगुह्यगूहन, ७. शृंखलित, ८. लम्बित, ९. उत्तरित, १०. स्तनदृष्टि, ११. काकावलोकन, १२. खलीनित, १३. युगकन्धर, १४. कपित्थमुष्टि, १५. शीर्षप्रकम्पित, १६. मूकसंज्ञा, १७. अंगुलिचालन, १८. भ्रूक्षेप, १९. उन्मत्त, २०. पिशाच, २१. पूर्वदिशावलोकन, २२. आग्नेयदिशावलोकन, २३. दक्षिणदिशावलोकन, २४. नैऋत्यदिशावलोकन, २५. पश्चिमदिशावलोकन, २६. वायव्यदिशावलोकन, २७. उत्तरदिशावलोकन, २८. ईशानदिशावलोकन, २९. ग्रीवोन्नमन, ३०. ग्रीवावनमन, ३१. निष्ठीवन, ३२. अंगस्पर्श।[2]

भगवती आराधना की विजयोदया टीका में कायोत्सर्ग के इन दोषों के क्रम में अंतर है तथा कहीं-कहीं दो दोषों को एक साथ मिला दिया है।[3]

इसके अतिरिक्त कायोत्सर्ग के समय मुनि यदि नींद का बहाना करता है, सूत्र और अर्थ विषयक पृच्छा करता है, कांटा निकालने लगता है, मल और मूत्र का विसर्जन करने के लिए चला जाता है, धर्मकथा में प्रवृत्त हो जाता है, रोगी होने का बहाना करता है तो माया के कारण कायोत्सर्ग शुद्ध नहीं होता।[4]

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के पांच लाभ निर्दिष्ट किए हैं–

---

१. मूलाचार में दोषों के नामों में अंतर है।

२. मूलाचार गा. ६७०-६७२, वृ.पृ. ४८५-४८८।

३. भगवती आराधना वृ. पृ. १६३।

४. आ.नि. गा. १५४३–
पयलायति पडिपुच्छति कंटग वीयार पासवणधम्मे।
नियडी गेलन्नं वा, करेति कूडं हवइ एयं।।

५. वही, गा. १४६२
देहमतिजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा।
झायति य सुहं झाणं, एगग्गो काउसग्गम्मि।।

१. देह जाड्यशुद्धि–श्लेष्म आदि दोषों के क्षीण होने से देह की जड़ता नष्ट होती है।

२. मति जाड्यशुद्धि–जागरूकता के कारण बुद्धि की जड़ता नष्ट होती है।

३. सुख-दुःख तितिक्षा–सुख-दुःख को सहन करने की शक्ति का विकास होता है।

४. अनुप्रेक्षा–भावनाओं से मन को भावित करने का अवसर प्राप्त होता है।

५. एकाग्रता–एकाग्रचित्त से शुभध्यान करने का अवसर प्राप्त होता है।

मुनि मायारहित होकर, विशेष रूप से अपनी अवस्था और बल के अनुरूप स्थाणु की भांति निष्प्रकंप खड़े होक कायोत्सर्ग करे।[१]

आवश्यक चूर्णिकार ने खड़े-खड़े कायोत्सर्ग न करने की स्थिति में बैठकर कायोत्सर्ग करना एवं उसमें भी असमर्थ होने पर लेटकर कायोत्सर्ग करना विहित माना है।[२]

---

१. आ.नि. गा. १५४१
निक्कूडं सविसेसं, वयाणुरूवं बलाणुरूवं च।
खाणुव्व उड्ढदेहो, काउस्सग्गं तु ठाएज्जा।।

२. आ. चू. (द्वि.) पृ. २५०
असमत्थत्तणेणं जावतिओ उट्ठितओ सक्केति कातुं तावतिए तथा करेति, सेसे उवविट्ठो करेति। जतिए सक्केति उववेट्ठो कातुं तेत्तिकं करेति। सेसे असमत्थो संविट्ठो करेति।

पंचमं अज्झयणं : पांचवां अध्याय

काउस्सग्गो : कायोत्सर्ग

मूलपाठ	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सामाइय-सुत्तं	**सामायिक-सूत्रम्**	**सामायिक सूत्र**
१. करेमि भंते! सामाइयं– सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं– मणेणं वायाए काएणं, न करेमि न कारवेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।	करोमि भदन्त! सामायिकं– सर्वं सावद्यं योगं प्रत्याख्यामि, यावज्जीवं त्रिविधत्रिविधेन– मनसा वचसा कायेन न करोमि न कारयामि कुर्वन्तमपि अन्यं न समनुजानामि, तस्य भदन्त! प्रतिक्रामामि निंदामि गर्हे आत्मानं व्युत्सृजामि।	भंते! मैं सामायिक करता हूँ, सर्व सावद्य योग का प्रत्याख्यान करता हूँ, यावज्जीवन तीन करण तीन योग से– मन से, वचन से, काया से न करूंगा, न करवाऊंगा, न करने वाले अन्य का अनुमोदन करूंगा। भगवन्! अतीत के सावद्य योग का प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे व्युत्सृष्ट करता हूँ।
काउस्सग्गपइण्णा-सुत्तं	**कायोत्सर्गप्रतिज्ञा-सूत्रम्**	**कायोत्सर्गप्रतिज्ञा-सूत्र**
२. इच्छामि ठाइउं काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइयारो कओ काइओ वाइओ माणसिओ उस्सुत्तो उम्मग्गो अकप्पो अकरणिज्जो दुज्झाओ दुव्विचिंतिओ अणायारो अणिच्छियव्वो असमणपाउग्गो नाणे दंसणे चरित्ते सुए सामाइए	इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मया दैवसिकः अतिचारः कृतः कायिकः वाचिकः मानसिकः उत्सूत्रः उन्मार्गः अकल्प्यः अकरणीयः दुर्ध्यातः दुर्विचिन्तितः अनाचारः अनेष्टव्यः अश्रमणप्रायोग्यः ज्ञाने दर्शने चारित्रे श्रुते सामायिके	मैं कायोत्सर्ग में स्थित होने की इच्छा करता हूं। जो मैंने दैवसिक, कायिक, वाचिक, मानसिक अतिचार किया हो, उत्सूत्र की प्ररूपणा की हो, उन्मार्ग मोक्ष मार्ग के प्रतिकूल मार्ग का प्रतिपादन किया हो, अकल्प्य–विधि के विरुद्ध आचरण किया हो, अकरणीय कार्य किया हो, अशुभ ध्यान– आर्त्त-रौद्र किया हो असद् चिंतन किया हो, अनाचार और अवांछनीय का आचरण किया हो, श्रमण के लिए अयोग्य कार्य का आचरण किया हो, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, श्रुत और सामायिक के विषय में तथा तीन गुप्ति, चार कषाय, पांच महाव्रत, षड्जीव-निकाय, सात पिण्डैषणा, आठ प्रवचन-माता, नौ ब्रह्मचर्यगुप्ति तथा दस प्रकार के श्रमण धर्म में होने वाले श्रमण योगों को जो खण्डित किया हो, जो विराधित किया हो। उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो।
तिण्हं गुत्तीणं	तिसृषु गुप्तिषु	
चउण्हं कसायाणं	चतुर्षु कषायेषु	
पंचण्हं महव्वयाणं	पञ्चसु महाव्रतेषु	
छण्हं जीवनिकायाणं	षट्सु जीवनीकायेषु	
सत्तण्हं पिंडेसणाणं	सप्तसु पिण्डैषणासु	
अट्ठण्हं पवयणमाऊणं	अष्टसु प्रवचनमातृषु	
नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं	नवसु ब्रह्मचर्यगुप्तिषु	
दसविहे समणधम्मे	दशविधे श्रमणधर्मे	
समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं, तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।	श्रमणानां योगानां यत् खण्डितं यत् विराधितं, तस्य मिथ्या मे दुष्कृतम्।	

३. तस्स उत्तरीकरणेणं[1] पायच्छित्त-करणेणं विसोहीकरणेणं विसल्ली-करणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं, अन्नत्थ ऊससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ होज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरहंताणं भगवंताणं नमोक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि।

तस्य उत्तरीकरणेन प्रायश्चित्तकरणेन विशोधिकरणेन विशल्यीकरणेन पापानां कर्मणां निर्घातनार्थं तिष्ठामि कायोत्सर्गम् अन्यत्र उच्छ्वसितात् निःश्वसितात् कासितात् क्षुतात् जृम्भितात् 'उड्डुएणं' वातनिसर्गात् भ्रमल्याः पित्तमूर्च्छायाः सूक्ष्मेभ्यः अंगसञ्चालेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः क्ष्वेलसञ्चालेभ्यः सूक्ष्मेभ्यः दृष्टिसञ्चालेभ्यः एवमादिभिः आकारैः अभग्नः अविराधितो भवेद् मे कायोत्सर्गः यावद् अर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि तावत् कायं स्थानेन मौनेन ध्यानेन आत्मानं व्युत्सृजामि।

मैं अविधिकृत आचरण के परिष्कार द्वारा, प्रायश्चित्त द्वारा, विशोधन द्वारा और शल्य (अपराध) विमोचन द्वारा, पाप कर्मों को नष्ट करने के लिए कायोत्सर्ग में स्थित होता हूं। उच्छ्वास, निःश्वास, खांसी, छींक, जम्हाई, डकार, अधोवायु, चक्कर, पित्तजनित मूर्च्छा, शरीर के अंगों के सूक्ष्म संचार, श्लेष्म के सूक्ष्म संचार और दृष्टि के सूक्ष्म संचार—ये प्रवृत्तियां कायोत्सर्ग में बाधक नहीं बनेंगी। इसी प्रकार की अन्य (स्वाभाविक और विकारजनित) अपवादों के द्वारा भग्न और विराधित नहीं हो मेरा कायोत्सर्ग।[2] जब तक मैं अर्हत् भगवान् को नमस्कार कर उसे सम्पन्न न करूं, तब तक मैं काया को स्थान—स्थिर मुद्रा, मौन और शुभ ध्यान के द्वारा अपने आत्मा (शरीर) का व्युत्सर्ग करता हूं।

टिप्पण

सूत्र-३

1. (तस्स उत्तरीकरणेणं)

जिन अतिचारों की आलोचना, निंदा और प्रतिक्रमण कर लिया है, उन पापकर्मों के निर्घातन के लिए कायोत्सर्ग करना उत्तरीकरण है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार अतिचारों की पुनः स्मृति कर उनके लिए कायोत्सर्ग करना उत्तरीकरण है।[2]

2. उच्छ्वास, निःश्वास.....अपवादों के द्वारा भग्न और विराधित नहीं होगा मेरा कायोत्सर्ग (ऊससिएणं नीससीएणं.....आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ होज्ज मे काउस्सग्गो)

कायोत्सर्ग में स्थित साधु को अपने तीनों योगों की चंचलता का निरोध करना होता है। शरीर के आवश्यक संचालन का निरोध शक्य नहीं है। अतः उन १२ अपवादों का एवं इसी प्रकार के अन्य अपवादों का आगार रखकर ही कायोत्सर्ग किया जाता है।

१. उच्छ्वास २. निःश्वास।

श्वास की प्रक्रिया सहज होती है। सहजतया श्वास प्रक्रिया से कायोत्सर्ग अभग्न रहेगा।

३. खांसी ४. छींक ५. जम्हाई ६. डकार ७. अधोवायु।

ये पांच अपवाद शारीरिक आवेग हैं। इन आवेगों को रोकने से असमाधि तथा मरण भी संभव है। ये आवेग भी यदि उपस्थित हों तो उन्हें भी यतनापूर्वक किया जाता है। जैसे खांसी या छींक आने की स्थिति में कायोत्सर्ग में स्थित मुनि अपना हाथ यतनार्थ मुंह एवं नाक के सामने कर दे।

८. चक्कर ९. पित्तजनित मूर्च्छा। कायोत्सर्ग में खड़ा साधक इन दोनों स्थितियों में बैठ सकता है।

१०-१२. शरीर के अंग, श्लेष्म एवं दृष्टि का सूक्ष्म संचार—ये शरीर के स्वाभाविक संचार हैं, इनसे कायोत्सर्ग भग्न नहीं होगा।

कायोत्सर्ग में मुनि प्रयत्नपूर्वक उन्मेष-निमेष भी नहीं करता।

---

१. आ.चू. (द्वि), पृ. २५०,२५१— उत्तरकरणं णाम तस्स पुव्वं आलोयणादि कतं, इमं पुण काउस्सग्गकरणं उत्तरकरणं तस्स।

२. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. १९२— 'तस्वे' ति तस्य—अनन्तरं प्रस्तुतस्य श्रामण्ययोगसंघातस्य कथञ्चित् प्रमादात् खण्डितस्य विराधितस्य वोत्तरीकरणेन हेतुभूतेन 'ठामि काउस्सग्ग' मिति योगः।

चउवीसत्थव-सुत्तं	चतुर्विंशतिस्तव-सूत्रम्	चतुर्विंशतिस्तव-सूत्र
४. लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे। अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसंपि केवली।।१।।	लोके उद्योतकरान्, धर्मतीर्थकरान् जिनान्। अर्हत: कीर्तयिष्यामि, चतुर्विंशतिमपि केवलिन:।।१।।	जो लोक में प्रकाश करने वाले, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक, जिनेश्वर और अर्हत् हैं, मैं उन चौबीस केवलियों का कीर्त्तन करूंगा।
उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च। पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे।।२।।	ऋषभम् अजितं च वन्दे, सम्भवम् अभिनंदनं च सुमतिं च। पद्मप्रभं सुपार्श्वं, जिनं च चंद्रप्रभं वन्दे।।२।।	मैं ऋषभ, अजित, संभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, और चन्द्रप्रभ को वन्दन करता हूं।
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च। विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि।।३।।	सुविधिं च पुष्पदन्तं, शीतलं श्रेयांसं वासुपूज्यं च। विमलम् अनन्तं च जिनं, धर्मं शान्तिं च वन्दे।।३।।	मैं पुष्पदन्त यानी सुविधि, शीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म और शान्ति को वन्दन करता हूं।
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च। वंदामि रिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च।।४।।	कुन्थुम् अरं च मल्लिं, वन्दे मुनिसुव्रतं नमिजिनं च। वन्दे अरिष्टनेमिं, पार्श्वं तथा वर्द्धमानं च।।४।।	मैं कुन्थु, अर, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, अरिष्टनेमि, पार्श्व तथा वर्द्धमान को वन्दन करता हूं।
एवं मए अभिथुआ, विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा। चउवीसंपि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु।।५।।	एवं मया अभिष्टुता:, विधुतरजोमला: प्रहीणजरमरणा:। चतुर्विंशति: अपि जिनवरा:। तीर्थकरा: मम प्रसीदन्तु।।५।।	इस प्रकार जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्म-रज मल से मुक्त हैं, जो जरा और मरण से मुक्त हो चुके हैं, वे चौबीस जिनवर तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हों।
कित्तिय वंदिय मए, जेए लोगस्स उत्तमा सिद्धा। आरोग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु।।६।।	कीर्तिता: वन्दिता: मया, ये एते लोके उत्तमा: सिद्धा:। आरोग्यं बोधिलाभं, समाधिवरमुत्तमं ददतु।।६।।	मैंने जिनका कीर्त्तन, वन्दन किया है, वे लोक में उत्तम सिद्ध भगवान मुझे आरोग्य, बोधिलाभ और उत्तम समाधि दें।
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा। सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु।।७।।	चन्द्रेभ्य: निर्मलतरा:, आदित्येभ्य: अधिकं प्रकाशकरा:। सागरवरगंभीरा:, सिद्धा: सिद्धिं मम दिशन्तु।।	जो चन्द्रमाओं से भी निर्मलतर, सूर्यों से भी अधिक प्रकाश करने वाले और समुद्र के समान गंभीर हैं, वे सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि दें।

छट्ठं अज्झयणं : छठा अध्याय

पच्चक्खाणं : प्रत्याख्यान

आमुख

मन, वचन और काया के द्वारा जो अनिष्टकारक अथवा बंधकारक प्रवृत्ति का निषेध किया जाता है, वह प्रत्याख्यान कहलाता है।[1] अथवा जिन अतिचारों की शुद्धि आलोचना, प्रतिक्रमण और कायोत्सर्ग के द्वारा नहीं होती, उनकी शुद्धि तप और प्रत्याख्यान से होती है।[2] प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं–द्रव्य प्रत्याख्यान, भाव प्रत्याख्यान। भाव प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं–

१. श्रुत प्रत्याख्यान

२. नोश्रुत प्रत्याख्यान।

श्रुत प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं–

१. पूर्वश्रुत–नौवां प्रत्याख्यान पूर्व।

२. नोपूर्व श्रुत–प्रत्याख्यान अध्ययन, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान आदि।

नोश्रुत प्रत्याख्यान के दो भेद हैं–

१. मूलगुण–सर्वमूलगुण (महाव्रत), देशमूलगुण (अणुव्रत)

२. उत्तरगुण–सर्वउत्तर गुण (अनागत आदि दस प्रत्याख्यान) देशउत्तर गुण (तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत)।[3]

ठाणं (१०/१०१) में प्रत्याख्यान के दस प्रकार बतलाए हैं–

१. अनागत प्रत्याख्यान, २. अतिक्रान्त प्रत्याख्यान, ३. कोटि सहित प्रत्याख्यान, ४. नियंत्रित प्रत्याख्यान, ५. साकार प्रत्याख्यान, ६. अनाकार प्रत्याख्यान, ७. परिमाणकृत प्रत्याख्यान, ८. निरवशेष प्रत्याख्यान, ९. संकेत प्रत्याख्यान, १०. अध्वा प्रत्याख्यान।

इनमें एक है साकार प्रत्याख्यान। आकार का अर्थ है– अपवाद।[4] जो प्रत्याख्यान अपवाद सहित है, वह साकार प्रत्याख्यान कहलाता है।

प्रस्तुत अध्ययन में दस प्रत्याख्यानों एवं उनके अपवादों का निरूपण किया गया है। १. नमस्कार सहिता २. पौरुषी ३. पूर्वार्द्ध ४. एकाशन ५. एकस्थान ६. आचामाम्ल (आचाम्ल) ७. अभक्तार्थ ८. दिवस चरिम ९. अभिग्रह १०. निर्विकृति।

इन प्रत्याख्यानों में इन अपवादों का उल्लेख है–

१. अनाभोग–अत्यंत विस्मृति होने पर।

२. सहसाकार–सहसा मुंह में कुछ डाल लेने पर।

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि.) पृ. २०८–प्रत्याख्यायते–निषिध्यतेऽनेन मनोवाक्कायक्रियाजालेन किञ्चिदनिष्टमिति प्रत्याख्यानम्।

२. आ.चू. (द्वि.) पृ. २७२– जो अतियारो आलोयणपडिक्कमण-काउस्सग्गेहिं ण सुज्झति, सो तवेण पच्चक्खाणेण य विसोधिज्जति।

३. वही, पृ. २७३–भावपच्चक्खाणं दुविहं–सुतपच्चक्खाणं णोसुतपच्चक्खाणं च, जं तं सुतपच्चक्खाणं तं दुविहं–पुव्वसुत णोपुव्वसुतपच्चक्खाणं, पुव्वसुतपच्चक्खाणं णाम पुव्वं णवमं जं तं, णो पुव्वसुतपच्चक्खाणं तं अणेगविहं, तं आतुरपच्चक्खाणं महापच्चक्खाणं, इमं पच्चक्खाणज्झयणं जं तं णोसुतपच्चक्खाणं, तं दुविहं–मूलगुणपच्चक्खाणं उत्तरगुणपच्चक्खाणं च, जं तं मूलगुणपच्चक्खाणं तं दुविहं–सव्वमूलगुणपच्चक्खाणं देसमूलगुणपच्चक्खाणं च, सव्वमूलगुणपच्चक्खाणं पंचमहव्वता, देसमूलगुणपच्चक्खाणं च पंच अणुव्वता। उत्तरगुणपच्चक्खाणं दुविहं– सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणं देसुत्तरगुणपच्चक्खाणं च। सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणं दसविहं अणागतमतिक्कंतं.....। देसुत्तरपच्चक्खाणं सत्तविहं तिन्नि गुणव्वताणि चत्तारि सिक्खावताणि।

४. आकारो प्रत्याख्यानापवादहेतुः।

३. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार—अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि दिए जाने पर।

४. महत्तराकार—आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर।

५. पारिष्ठापनिकाकार—अतिरिक्त आहार आ जाने पर परिष्ठापन की स्थिति में खाने पर।

प्रस्तुत अध्ययन के एक से दस सूत्रों के अन्तर्गत प्रत्याख्यान साकार प्रत्याख्यान में ही समाहित हैं।

आवश्यक निर्युक्ति एवं चूर्णि में स्वीकृत प्रत्याख्यान के निर्वहन का क्रम तथा प्रत्याख्यान के परिणाम विवेचित हैं—

स्पृष्ट—अशुद्ध परिणामों का परिहार कर त्याग का अखंड पालन करना। प्रत्याख्यान को विधियुक्त ग्रहण करना।

पालित—बार-बार उसके प्रति जागरूक रहना।

शोभित—भक्तपान लाकर पहले गुरु आदि को देना, शेष बचने पर स्वयं उपभोग करना अथवा देने के परिणाम से भक्तपान लाना।

पारित—प्रत्याख्यान की अवधि पूर्ण होते ही भोजन करना।

तीरित—प्रत्याख्यान की अवधिपूर्ण हो जाने पर भी मुहूर्त्त मात्र तक आहार का निरोध करना।

कीर्तित—भोजन की वेला में—मैंने यह प्रत्याख्यान किया था, अब वह पूर्ण हो गया हैं, इस प्रकार उच्चारण करते हुए भोजन करना।

अनुपालित—तीर्थंकर के वचनों का बार-बार स्मरण कर प्रत्याख्यान का पालन करना।

प्रत्याख्यान की विधिवत् अनुपालना करने से आस्रव द्वारों का निरोध होता है। आस्रव द्वारों के निरोध से विषयाभिलाषा की निवृत्ति (तृष्णा-क्षय), अतुल उपशम की वृद्धि, प्रत्याख्यान की विशोधि, चारित्रधर्म की आराधना, कर्म विवेक, अपूर्वकरण (श्रेणी-आरोहण), कैवल्य की प्राप्ति और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है।[१]

---

१. श्री भिक्षु आगम विषय कोश भाग -१ (शब्द प्रत्याख्यान)
(क) आ. नि. गा. १५९३-१५९५
फासितं पालितं चेव, सोहितं तीरितं तहा।
किट्टियमाराहितं चेव, एरिसयम्मी पयइयव्वं।।
पच्चक्खाणम्मि कते, आसवदाराइं होंति पिहिताइं।
आसववुच्छेदेणं, तण्हावुच्छेदणं होति।।
तण्हावोच्छेदेण य, अउलोवसमो भवे मणुस्साणं।
अउलोवसमेण पुणो, पच्चक्खाणं हवति सुद्धं।।
तत्तो चरित्तधम्मो, कम्मविवेगो ततो अपुव्वकरणं च तु।
तत्तो केवलनाणं, तत्तो य मोक्खो सया सोक्खो।।
(ख) आ.चू. (द्वि) पृ. ३१४

छट्ठं अज्झयणं : षष्ठ अध्ययन

पच्चक्खाणं : प्रत्याख्यान

मूलपाठ	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
दसपच्चक्खाण-सुत्तं	**दसप्रत्याख्यान-सूत्रम्**	**दसप्रत्याख्यान सूत्र**
नमुक्कारसहियं	**नमस्कारसहिता**	**नमस्कारसहिता**
१. सूरे उग्गए नमुक्कारसहियं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं वोसिरइ।	सूरे उद्गते नमस्कारसहितां प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात्, सहसाकारात् व्युत्सृजति।	सूर्योदय होने से नमस्कारसहिता[1] (नवकारसी) का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग[2] और सहसाकार[3]– इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार[4]– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

टिप्पण

सूत्र-१

1. नमस्कारसहिता (नमुक्कारसहियं)

सूर्योदय से लेकर ४८ मिनिट तक कुछ भी खाना-पीना नहीं। समय सम्पन्न होने पर नमस्कार मंत्र का स्मरण कर इसको पूर्ण किया जाता है, इस दृष्टि से इसका नाम नमस्कार सहिता रखा गया है।

2. अनाभोग (अनाभोगेणं)

अनाभोग का अर्थ है– अत्यन्त विस्मृति।

नमो अरहंताणं.....इस प्रकार नमस्कार मंत्र का उच्चारण कर नवकारसी को पूरा किया जाता है। (कालमान पूर्ण होने के पश्चात्) अत्यंत विस्मृति होने पर नमस्कार का उच्चारण किए बिना ही मुंह में कवल आदि ले लिया, किन्तु स्मृति में आते ही उसे मुंह से निकालकर 'खेलमल्लक' में डाल देने पर तथा हाथ का कवल पात्र में डाल देने पर और नमस्कार मंत्र का उच्चारण कर उस कवल को खाने पर त्याग का भंग नहीं होता।[1]

3. सहसाकार (सहसागारेणं)

सहसाकार– सहसा मुंह में कुछ डालने से।

अकस्मात् मुंह में कवल लेने पर, पुनः निकाल कर (कालमान पूर्ण होने के पश्चात्) नमस्कार मंत्र का उच्चारण कर खाने से त्याग का भंग नहीं होता। इस प्रकार आहार की अभिलाषा का छेद करने से निर्जरा होती है।[2]

4. चतुर्विध आहार (चउव्विहंपि आहारं)

आहार के चार प्रकार हैं– अशन, पान, खादिम और स्वादिम। निर्युक्तिकार ने इन चारों की संक्षेप में सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है–

आसुं खुहं समेती, असणं पाणाणुवग्गहे पाणं।
खे माइ खाइमं ति य, साएइ गुणे तओ साइ।।

आ.नि.गा. १५८८

जो भूख को शीघ्र शांत करता है वह है अशन, जो प्राणों का उपकारक होता है वह है पान, जो मुख-विवर में समाता है वह है खादिम और जिसका स्वाद लिया जाए वह है स्वादिम।

शिष्य ने प्रश्न किया कि जैसे आहार क्षुधा को शांत करता है, वैसे ही पान आदि भी क्षुधा को शांत करते हैं तथा जैसे पानक प्राणों

---

१. (क) आ.चू. (द्वि) पृ. ३१५– अणाभोगो णाम एकान्तविस्मृतिः, विस्सरिएणं णमोक्कारं अकाऊणं मुहे छूढं होज्जा, संभरिते समाणे मुहे तणगं खेलमल्लए जं हत्थे तं पत्ते पच्छा भुंजे, णमुक्कारं काऊणं जेमेति तो न भग्गं।
(ख) आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. २४०

२. आ.चू (द्वि), पृ. ३१५– सहसाकारे णाम सहसा मुहे पक्खित्तं, छड्डुति जाणंते वि तहेव विगिंचित्ता णमोक्कारं काऊणं भुंजति पच्छा, एवं पि किर जीवो आहाराभिमुहो णियत्तिओ भवति, तेण तण्हाच्छेदेण णिज्जरा।

का उपकारक है, वैसे ही अशन आदि भी प्राणों के उपकारक हैं। चारों में एक-दूसरे के गुण हैं। सारा आहार अशन है, सारा आहार पान है, सारा आहार खादिम है, सारा आहार स्वादिम है। इसलिए आहार के चार प्रकार न कर उन सबका समावेश एक 'अशन' शब्द में ही कर लेना चाहिए।

आचार्य ने कहा– यदि चारों को अशन शब्द से व्यवहृत किया जाए तो अशन के त्याग से चारों प्रकार का त्याग हो जाता है। परन्तु पानक का त्याग करने पर शेष तीनों की निवृत्ति नहीं होती तथा इनका अलग-अलग निरूपण करने से प्रत्याख्यान करने की भी सुगमता होती है। सामान्य-विशेष भाव से प्ररूपित होने पर उन पर श्रद्धा करना सुगम हो जाता है और उनकी पालना भी सुकर हो जाती है।[१]

पोरिसी

२. सूरे उग्गए पोरिसिं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं– असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसामोहेणं साहुवयणेणं सव्व-समाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।

पौरुषी

सूरे उद्गते पौरुषीं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् प्रच्छन्नकालात् दिङ्मोहात् साधुवचनात् सर्वसमाधि-प्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।

पौरुषी

सूर्योदय होने से पौरुषी[1] का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्न-काल[2] (काल का पता न चलने पर) दिशामूढता,[3] साधुवचन,[4] सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार[5]– इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-२

1. पौरुषी (पोरिसिं)

पुरुष के द्वारा इसका माप होता है, इसलिए इसे पौरुषी कहा जाता है। जिस समय मनुष्य की शरीर-प्रमाण छाया निष्पन्न होती है, वह कालमान पौरुषी कहलाता है।[२] दूसरे शब्दों में दिन का चतुर्भाग पौरुषी कहलाता है। यह कालमान दिन के घटने-बढ़ने के साथ घटता-बढता रहता है। उतने समय तक खाद्य-पेय पदार्थों का प्रत्याख्यान पौरुषी है।

2. प्रच्छन्न काल (पच्छन्नकालेणं)

आकाश बादलों से आच्छन्न अथवा धूली से व्याप्त हो जाने पर अथवा पर्वत आदि अवरोधक कारणों से सूर्य न दिखाई देने पर अनुमान से पौरुषी का कालमान जानकर पौरुषी पार ली फिर ज्ञात हुआ कि पौरुषी का कालमान नहीं आया है। तब पुनः भोजन से उपरत होना चाहिए। जिससे पौरुषी भंग नहीं हो। फिर भी यदि भोजन आदि करता है तो पौरुषी भंग हो जाती है।[३]

3. दिशामूढता (दिसामोहेण)

किसी-किसी व्यक्ति को दिशा का भ्रम हो जाता है, वह पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व दिशा मान लेता है। इस प्रकार वह दिशामोह के कारण सूर्योदय होने पर भी सूर्योदय नहीं मानता।[४]

4. साधुवचन (साहुवयणेणं)

किसी ने पौरुषी तक चतुर्विध आहार का त्याग किया। उसने साधुओं से पूछा– क्या पौरुषी का समय पूर्ण हो गया? साधुओं ने कहा– हां! तब वह पौरुषी पूर्ण कर लेता है और भोजन करने बैठ जाता है। फिर साधुओं को ऐसा प्रतीत होने पर कि पौरुषी नहीं आई है, वे उसे कहते हैं– अभी पौरुषी नहीं आई है। यह सुनकर उसे भोजन से तत्काल उपरत हो जाना चाहिए।[५]

5. सर्वसमाधि प्रत्ययाकार (सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं)

किसी ने जल्दबाजी में अथवा गुस्से में आकर पौरुषी का प्रत्याख्यान कर लिया अथवा इस प्रत्याख्यान से दूसरे को दुःख

---

१. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. २४०

२. आ.चू. (द्वि), पृ. ३१५– पुरुषनिष्पन्ना पौरुषी, जदा किर चउब्भागो दिवसस्स गतो भवति, तदा सरीरप्पमाणच्छाया भवति।

३. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. २४१– पच्छण्णातो दिसा उ रएण रेणुणा पव्वएण वा अण्णएण वा अंतरिते सूरो ण दीसति, पोरुसी पुण्ण त्ति कातुं पारितो, पच्छा णातं ताहे ठाइतव्वं ण भग्गं, जति भुंजति तो भग्गं।

४. वही, पृ. २४१– दिसामोहेण कस्सइ पुरिसस्स कम्हि वि खेत्ते दिसामोहो भवति, सो पुरिमं पच्छिमं दिसं जाणति, एवं सो दिसामोहेण– अइरुग्गदं पि सूरं दट्ठुं उस्सरीभूतं ति मण्णति णाते ठाति।

५. आ.चू. (द्वि), पृ. ३१६– साहुवयणेणं अन्ने साहू भणंति उग्घाडा पोरुसी, सो जेमेत्ता मिणति अद्धजिमिते वा अण्णे मिणंति तेण से कहियं जहा ण पूरिति त्ति तहेव ठातितव्वं।

हुआ। अत: उसकी शांति के लिए अथवा औषधि आदि देने के प्रसंग में यदि वह प्रत्याख्यान समय से पहले ही पूर्ण कर ले तो उसका प्रत्याख्यान भंग नहीं होता।[१]

इस अपवाद को प्रचलित भाषा में 'सुखे समाधे' कहा जाता है। अचानक किसी रोग के उभरने के कारण औषधि आदि के दिए जाने पर।

पुरिमड्ढं

३. सूरे उग्गए पुरिमड्ढं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं– असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पच्छन्नकालेणं दिसा-मोहेणं साहुवयणेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।

पूर्वार्द्धम्

सूरे उद्गते पूर्वार्द्धं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् प्रच्छन्नकालात् दिङ्मोहात् साधुवचनात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।

पूर्वार्द्ध

सूर्योदय होने से पूर्वार्द्ध[1] का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, प्रच्छन्न-काल, दिशामूढता, साधुवचन, महत्तराकार (आचार्य आदि के द्वारा आज्ञा देने पर) सर्वसमाधिप्रत्ययाकार–इन आकारों– अप-वादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-३

1. पूर्वार्द्ध (पुरिमड्ढ)

पूर्वार्द्ध–दिन का पूर्ववर्ती आधा भाग। इसमें प्रथम दो प्रहर के काल तक खाने-पीने का प्रत्याख्यान होता है।[२]

एगासणं

४. एगासणं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारियागारेणं आउंटणपसारणेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणिया-गारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहि-वत्तिआगारेणं वोसिरइ।

एकाशनम्

एकाशनं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् सागारिकाकारात् आकुञ्चनप्रसारणात् गुर्वभ्युत्थानात् पारिष्ठापनिकाकारात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृति।

एकाशन

एकाशन[1] का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार,[2] आकुञ्चन-प्रसारण,[3] गुरु-अभ्युत्थान,[4] पारिष्ठापनिकाकार[5] (परिष्ठापन योग्य वस्तु), महत्तराकार[6], सर्वसमाधिप्रत्ययाकार–इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-४

1. एकाशन (एगासणं)

एकाशन–दिन में एक स्थान पर बैठकर एक बार से अधिक भोजन नहीं करना।

एकाशन करने के लिए बैठ जाने पर भोजन काल तक पुतों का हलन-चलन न करना– यह इसकी मर्यादा है। हाथ, पैर आदि हिलाने का निषेध नहीं है।[३]

2. सागारिकाकार (सागारियागारेणं)

कोई मुनि किसी गृहस्थ को वाचना दे रहा था। वह अधूरी रह गई। दूसरे दिन वहां एक मुनि एकाशन करने बैठ गया। इतने में ही वह गृहस्थ वहां अवशिष्ट वाचना लेने आया। मुनि को एकाशन में बैठा देख लौटने लगा अथवा वहां प्रतीक्षा करने लगता है अथवा खड़ा रह जाता है तब स्वाध्याय का व्याघात होगा, यह सोचकर

१. आ.चू (द्वि), पृ. ३१६– समाधी णाम तेण य पोरुसी पच्चक्खाया, आसुक्कारियं दुक्खं उप्पन्नं तस्स अन्नस्स वा, तेण किंचि कायव्वं तस्स, ताहे परो विज्जे (हवे) ज्जा तस्स वा पसमणणिमित्तं पाराविज्जति ओसहं वा दिज्जति, एत्थंतरा णाए तहेव विवेगो।

२. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. २४२– पुरिमार्द्धं प्रथमप्रहरद्वयकालावधि-प्रत्याख्यानं गृह्यते।

३. आ.चू. (द्वि), पृ. ३१६– एगासणगं नाम पुता भूमीतो ण चालिज्जंति, सेसाणि हत्थे पायाणि चालेज्जा वि।

मुनि एकाशन से उठकर अन्यत्र जाकर एकाशन पूर्ण करता है तो एकाशन का भंग नहीं होता।[1]

3. आकुञ्चन-प्रसारण (आउंटणपसारेणं)

हाथ, पैर, शिर आदि को संकुचित करना और फैलाना।[2]

4. गुरु-अभ्युत्थान (गुरु अब्भुट्ठाणेणं)

जिसके आने पर उठना जरूरी है, ऐसे आचार्य, अतिथि आदि किसी के आने पर उठना।[3]

5. पारिष्ठापनिकाकार (पारिट्ठावणियागारेणं)

एकाशन पूर्ण कर उठने के बाद ऐसी स्थिति आ जाए कि साधुओं के आहार ज्यादा हो जाए, परठने की स्थिति आ जाए उस स्थिति में यदि एकाशन करने वाले को आहार दिया जाए तो उसके एकाशन का भंग नहीं होता।

पारिष्ठापनिका अपवाद के विषय में निर्युक्ति एवं चूर्णि में विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है।

परिष्ठापनीय आहार ग्रहण के योग्य साधु दो श्रेणियों में विभक्त हैं–

१. आचाम्ल करने वाले।

२. आचाम्ल नहीं करने वाले (एकाशन, एकस्थान, उपवास बेला आदि करने वाले और निर्विकृतिक)।

दशमभक्त (चार दिन के उपवास) वालों को परिष्ठापनीय आहार नहीं दिया जाता, केवल उष्ण जल दिया जा सकता है। उनके अधिष्ठित देव होता है।

एक के आचाम्ल है और एक के उपवास है तो प्राथमिकता किसको दी जाए? इसके समाधान में कहा गया है कि उपवास करने वाले को प्राथमिकता दी जाए। उपवास करने वालों में भी बाल और वृद्ध हों तो पहले बाल को दी जाए। उनमें भी असहिष्णु, भ्रमणशील और प्राघूर्णक को दिया जाए, सहिष्णु, अभ्रमणशील और स्थिरवासी को नहीं। प्राघूर्णक न हो तो असहिष्णु, भ्रमणशील और वास्तव्य बाल को दिया जाए–इन चार पदों के आधार पर आचाम्ल के षष्ठभक्त, अष्टमभक्त आदि के साथ कुल छियानवें विकल्प बनते हैं। आचाम्लक और निर्विकृतिक में से आचाम्लक को प्राथमिकता दी जाए।

एक मुनि के चतुर्थ भक्त (उपवास) और एक के षष्ठभक्त (बेला) है तो षष्ठभक्त वाले को परिष्ठापनीय आहार दिया जाता है। इसी प्रकार एकाशन और एक स्थान में एक स्थान को, एकाशन और निर्विकृतिक में एकाशन को प्राथमिकता दी जाती है।

जो आहार निर्दोष विधि (अलुब्धभाव) से गृहीत और विधियुक्त (मण्डली में कट–प्रतर छेद और सिंह की भांति विधि से खाया गया) है, उसमें से यदि कुछ बच जाता है तो वही बचा हुआ परिष्ठापनीय आहार आयंबिल, एकाशन, उपवास आदि करने वालों को गुरु की अनुज्ञा से दिया जा सकता है।[4]

6. महत्तराकार (महत्तरागारेणं)

महत्तराकार–आचार्य के द्वारा आज्ञा देने पर। वृत्तिकार के अनुसार महत्तराकार का अर्थ है–महान् प्रयोजन। कोई संघीय सेवा कार्य आदि विशेष प्रयोजन उपस्थित होने पर आचार्य शिष्य से कहते हैं–आज तुम्हें अमुक गांव में जाना है। वह निवेदन करता है–गुरुदेव! आज मेरे उपवास है। इस निवेदन के पश्चात् यदि शिष्य समर्थ है तो उपवास भी करता है और कार्य हेतु दूसरे गांव भी चला जाता है। यदि वह समर्थ नहीं है तो अन्य शिष्य (जो भी समर्थ है) जाता है। यदि अन्य शिष्य नहीं है या उस विशिष्ट कार्य को सम्पादित करने में समर्थ नहीं है तो गुरु उस उपवासी (अभक्तार्थी) शिष्य को ही भेजते हैं। गुरु का आज्ञावर्ती होने के कारण वह आहार करता हुआ भी उपवास से होने वाली निर्जरा का भागी बनता है, क्योंकि वह आहार की अभिलाषा से मुक्त है।[5]

एगट्ठाणं	एकस्थानम्	एकस्थान
५. एगट्ठाणं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं	एकस्थानं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात्	एकस्थान[1] का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, सागारिकाकार, गुरु-अभ्युत्थान, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार,

१. आ.चू. (द्वि), पृ. ३१६– सागारियं अद्धसमुद्दिट्ठस्स आगतं जदि वोलेति पडिच्छति, अह थिरं ताहे सज्झायवाघातो त्ति उट्ठेता अन्नत्थ गंतूणं समुद्दिसति।

२. वही, पृ. ३१६– हत्थं वा पायं वा सीसं वा आउंटेज्जा वा पसारेज्ज वा ण भज्जति।

३. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. २४२– अब्भुट्ठाणारिहो आयरिओ पाहुणगो वा आगतो अब्भुट्ठेतव्वं तस्स।

४. श्री भिक्षु आगम विषय कोश (भाग-१) शब्द प्रत्याख्यान
(क) आ. नि. गा. १६१०, १६११
(ख) आ. चू. (द्वि) पृ. ३२०, ३२१

५. श्री भिक्षु आगम विषय कोश (भाग १) शब्द प्रत्याख्यान
आ. हा. वृ. (द्वि) पृ. २३५–महत्तरागारेहिं-महल्लपयोयणेहिं, तेण अभत्तट्ठो पच्चक्खातो ताधे आयरिएहिं भण्णति, अमुगं गामं गंतव्वं, तेण निवेइयं जथा मम अज्ज अभत्तट्ठो, जति ताव समत्थो करेतु जातु य, ण तरति अण्णो भत्तट्ठिओ अभत्तट्ठिओ वा जो तरति सो वच्चतु, णत्थि अण्णो तस्स वा कज्जस्स असमत्थो ता धेतस्स चेव अभत्तट्ठियस्स गुरु विसज्जयति, एरिसस्स तं जेमंतस्स अणभिलाससस्स अभत्तट्ठित णिज्जरा जा सा से भवति गुरुनिओएण।

सागारियागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।	सागारिकाकारात् गुर्वभ्युत्थानात् पारिष्ठापनिकाकारात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।	सर्वसमाधि प्रत्ययाकार–इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-५

1. एकस्थान (एगट्ठाणं)

इसमें भी भोजन एक ही बार किया जाता है। 'एकस्थान' करने वाला व्यक्ति जिस आसन अथवा जिस अवस्थिति में भोजन करने बैठता है, भोजन सम्पन्न होने तक उसे उसी आसन तथा उसी अवस्थिति में रहना होता है। वह अंगोपांगों को हिला-डुला नहीं सकता, अन्य अवस्थिति में नहीं रह सकता।[1]

आयंबिलं	आचामाम्लम्	आचामाम्ल
६. आयंबिलं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं–असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं उक्खित्तविवेगेणं गिहत्थसंसट्ठेणं पारिट्ठावणिया-गारेणं महत्तरागारेणं सव्व-समाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ।	आचामाम्लं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् लेपालेपात् उत्क्षिप्तविवेकात् गृहस्थसंसृष्टात् पारिष्ठापनिकाकारात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।	आचामाम्ल[1] का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप,[2] उत्क्षिप्त-विवेक,[3] गृहस्थसंसृष्ट,[4] पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि प्रत्ययाकार– इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-६

1. आचामाम्ल (आयंबिलं)

आचामाम्ल (आयंबिलं) का अर्थ है– अम्ल रस सहित भोजन। यह उपाधि भेद से तीन प्रकार का है– ओदन, कुल्माष और सक्तु। इनमें प्रत्येक के द्रव्य, रस और गुण के आधार पर तीन-तीन प्रकार हैं।[1] इसके पांच कुडंग–छलनाएं हैं– लौकिक, वैदिक, सामयिक, अज्ञानगत, ग्लानगत।[2]

इन पांच कुडंगों को समझाने के लिए वृत्तिकार ने कुछ विस्तार किया है– एक मुनि ने आचामाम्ल का प्रत्याख्यान किया। उसे भिक्षा में मिठाई अथवा अन्य रसयुक्त पदार्थ प्राप्त हुए। उसने उपाश्रय में आकर गुरु को भिक्षा निवेदित की। गुरु ने कहा– आज तो तुमने आचामाम्ल का प्रत्याख्यान किया था, फिर इन पदार्थों का उपभोग कैसे करोगे? उस मुनि ने कहा– भंते! मैंने अनेक लौकिक शास्त्र देखे। कहीं भी आचामाम्ल शब्द नहीं मिला। यह लौकिक कुडंग है। वह कहता है– मैंने चारों वेदों का सांगोपांग निरीक्षण कर लिया तथा चरक, पांडुरंग आदि शास्त्र भी देख डाले, कहीं आचामाम्ल शब्द नहीं मिला। यह वैदिक और सामयिक कुडंग है। अज्ञानवश वह कहता है– भंते! मैं नहीं जानता कि आचामाम्ल क्या होता है? मैंने सोचा– कुसण भी खाया जा सकता है। आप निषेध करते हैं तो मिच्छामि दुक्कडं। पुनः नहीं खाऊंगा। ग्लानत्व की छलना कर कहता है– मैं आचामाम्ल नहीं कर सकता। आचामाम्ल करने पर पेट में शूल उठ जाता है अथवा अन्यान्य रोग हो जाते हैं, अतः आचामाम्ल करने में मैं समर्थ नहीं हूं।[4]

आचामाम्ल करने की विधि एक समान नहीं है। प्रचलित परम्परा के अनुसार आचामाम्ल में कोई एक धान्य (लवणमुक्त) तथा केवल पानी ग्रहण किया जाता है। यह ग्रहण भी एक ही स्थान पर बैठे-बैठे करना होता है। कुछेक परम्पराओं में अनेक धान्य लेना भी विहित है और इसके आधार पर अम्ल रस लेना भी विहित माना गया है।

---

१. आ.चू. (द्वि), पृ. ३१६– एकट्ठाणे जं जथा अंगुवंगं ठवियं तहेव समुद्दिसितव्वं।

२. आ.हा.वृ. (द्वि) पृ. २४३– आयामाम्लमिति गोण्णं नाम, आयामः– अवशायनं आम्लं– चतुर्थरसं ताभ्यां निर्वृत्तं आयामाम्लं, इदं चोपाधिभेदात् त्रिविधं भवति ओदनं कुल्माषाः सक्तवश्चैव....। एकैकमपि चामीषां त्रिविधं भवति– जघन्यकं मध्यमं उत्कृष्टं चेति।

३. वही, पृ. २४३– पंच कुडंगा वक्रविशेषा इति। तद्यथा– लोए वेए समए अन्नाणे खलु तहेव गेलन्ने एए पंच कुडंगा नायव्वा अंबिलम्मि भवे।

४. वही, पृ. २४३

2. लेपालेप (लेवालेवेणं)

लेपालेप–जिसमें दूध आदि का लेप लगा हो, उस पात्र से आहार लेने पर।

आचामाम्ल में अमुक-अमुक पदार्थ ही ग्राह्य होता है। किसी पात्र में कोई लेपकृत वस्तु पहले ले ली हो और उस पात्र को अंगुली आदि से साफ कर उसमें आचामाम्ल योग्य वस्तु लेकर उपभोग करने पर प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता।[1]

3. उत्क्षिप्तविवेक (उक्खित्तविवेगं)

आचामाम्ल करते समय यदि कोई विकृति (विगय) आदि आ जाए या आचामाम्ल के लिए अयोग्य पदार्थ आ जाए तो उसे निकाल देना– यह उत्क्षिप्त विवेक है।[2]

4. गृहस्थसंसृष्ट (गिहत्थसंसट्ठेणं)

गृहस्थ के भाजन, कुडछी आदि कुछ लेपयुक्त हों और उसी से आचामाम्ल योग्य पदार्थ लिया जाए तो प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता किन्तु यदि पर्याप्त लेपयुक्त हों तो नहीं कल्पता।[3]

अभत्तट्ठं	अभक्तार्थम्	अभक्तार्थ
७. सूरे उग्गए अभत्तट्ठं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं– असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्ति-आगरेणं वोसिरइ।	सूरे उद्गते अभक्तार्थं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् परिष्ठापनिकाकारात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।	सूर्योदय होने से अभक्तार्थ[1] (उपवास) का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधिप्रत्ययाकार– इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-७

1. अभक्तार्थ– उपवास (अभत्तट्ठं)

इसका एक नाम चतुर्थ भक्त का प्रत्याख्यान भी है। इसके पांच आकार हैं– अनाभोग, सहसाकार, पारिष्ठापनिका, महत्तराकार, सर्वसमाधिहेतुक।

यदि उपवास तिविहार है तो पारिष्ठापनिका का आगार है, चौविहार उपवास में नहीं। यदि तिविहार उपवास है तो उसके छह प्रकार के आगार हैं– लेपकृत, अलेपकृत, अच्छ, बहल, सिक्थ, असिक्थ।[4]

दिवसचरिमं	दिवसचरिमम्	दिवसचरिम
८. दिवसचरिमं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं– असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसा-गारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहि-वत्तिआगारेणं वोसिरइ।	दिवसचरिमं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।	दिवसचरिम[1] का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार, सर्व-समाधिप्रत्ययाकार– इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-८

1. चरिम (चरिम)

यह आठवां प्रत्याख्यान है। चरिम का अर्थ है– अन्तिम। इसके दो भेद हैं– दिवस चरिम तथा भव चरिम। सूर्य के रहते-रहते चतुर्विध आहार का त्याग कर देना– यह दिवस चरिम है। भव चरिम का अर्थ है– जीवन के अंत में होने वाला त्याग। व्यावहारिक दृष्टि से यह सागारिक अनशन का प्रकार है। इसकी भाषा है– यदि अमुक

१. आ.चू. (द्वि), पृ. ३१८– लेवालेवे जदि भायणेणं पुव्वं लेवाडं गहियं जा समुद्दिट्ठं संलिहियं, जति तेणं आणेति ण भज्जति।

२. वही, पृ. ३१९– उक्खित्तविवेगो जं आयंबिले पडति विगतिमादि तं उक्खिवित्ता परिट्ठाविज्जति य, णवरि गलिओ अण्णं वा आयंबिलअप्पाउगं जदि उद्धरितुं तीरति, उद्धरिएणं ण हम्मति।

३. वही, पृ. ३१९– गिहत्थसंसट्ठे णाम जदि गिहत्थडोयलियभायणं वा लेवालेवाडं कुसणादीहिं तेण जदि ईसि त्ति लेवादीहिं देति ण भज्जति, जदि बहुरसो आलिखिज्जति बहुतो ताहे ण कप्पति।

४. वही, पृ. ३१९– इयाणिं अभत्तट्ठो। तस्स पंच आगारा– अणाभोग सहसक्कारा पारिट्ठावणिया महयरसमाहित्ति, जति तिविहस्स पच्चक्खाति विगिंचणियं कप्पति, जदि चउव्विहस्स पाणगं च नत्थि न वट्टति, जदि पुण पाणगं पि उद्धरियं ताहे से कप्पति। जति तिविहस्स पच्चक्खाति ताहे से पाणगस्स छ आगारा– लेवाडेण वा अलेवाडेण वा अच्छेण वा बहलेण वा ससित्थेण वा असित्थेण वा वोसिरित्ति।

समय तक मेरी मृत्यु हो जाए तो यावज्जीवन तक चारों प्रकार के आहार का त्याग है।[1] वर्तमान में प्रचलित परम्परानुसार सूर्यास्त से एक मुहूर्त्त पहले चतुर्विध आहार का परित्याग दिवस चरिम है।

अभिग्गहो	अभिग्रहः	अभिग्रह
९. अभिग्गहं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं– असणं पाणं खाइमं साइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्ति-आगारेणं वोसिरइ।	अभिग्रहं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम्, अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।	अभिग्रह का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, महत्तराकार, सर्व-समाधिप्रत्ययाकार इन आकारों– अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार– अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।
निव्विगइयं	**निर्विकृतिकम्**	**निर्विकृति**
१०. निव्विगइयं पच्चक्खाइ चउव्विहंपि आहारं– असणं पाणं खाइमं खाइमं, अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं लेवालेवेणं गिहत्थसंसट्ठेणं उक्खित्तविवेगेणं पडुच्चमक्खिएणं पारिट्ठावणिया-गारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहि-वत्तिआगारेणं वोसिरइ।	निर्विकृतिकं प्रत्याख्याति चतुर्विधमपि आहारम्– अशनं पानं खाद्यं स्वाद्यम् अन्यत्र अनाभोगात् सहसाकारात् लेपालेपात् गृहस्थसंसृष्टात् उत्क्षिप्तविवेकात् प्रतीत्यम्रक्षितात् पारिष्ठापनिकाकारात् महत्तराकारात् सर्वसमाधिप्रत्ययाकारात् व्युत्सृजति।	निर्विकृति[1] का प्रत्याख्यान करता है। अनाभोग, सहसाकार, लेपालेप, गृहस्थ-संसृष्ट, उत्क्षिप्तविवेक, प्रतीत्यम्रक्षित[2] पारिष्ठापनिकाकार, महत्तराकार, सर्वसमाधि-प्रत्ययाकार– इन आकारों–अपवादों को छोड़कर चतुर्विध आहार–अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य का व्युत्सर्ग करता है।

सूत्र-९-१०

1. निर्विकृति (निव्विगइयं)

जिन वस्तुओं से जीभ और मन विकृत होते हैं– स्वादलोलुप या विषयलोलुप बनते हैं, उन्हें विकृति कहा जाता है। विकृति के दस प्रकार हैं– क्षीर, दधि, नवनीत, घृत, तैल, गुड, मधु, मद्य, मांस, अवगाहिम (मिठाई)। क्षीर पांच प्रकार का है– गाय, भैंस, बकरी, भेड़ और ऊंटनी का। ऊंटनी के दूध का दही नहीं जमता। दही के बिना नवनीत और घी नहीं होते। तैल चार प्रकार का है– तिल, अलसी, कुसुम्भ और सर्षप का। ये चार तैल ही विकृति हैं, शेष तेल निर्विकृति हैं। मद्य के दो प्रकार हैं– काष्ठ निष्पन्न और इक्षु निष्पन्न। गुड़ दो प्रकार का है– द्रव गुड़ और पिण्ड गुड़। मधु तीन प्रकार का है– माक्षिक, कौन्तिक, भ्रामर। मांस तीन प्रकार का है– जलचर जीवों का, स्थलचर जीवों का, खेचर जीवों का। चर्म, मांस और रुधिर भी मांस माने जाते हैं। अवगाहिम (मिठाई) आदि दस विकृतियां हैं।[2]

2. प्रतीत्यम्रक्षित (पडुच्चमक्खिएणं)

प्रतीत्यम्रक्षित का अर्थ है–हाथ आदि पर विकृति आदि लगी हो, उससे संश्लिष्ट वस्तु को ग्रहण करना।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है–अंगुलि आदि से तैल, घी आदि ग्रहण कर लगाता है, वह निर्विकृति में कल्पता है किन्तु धारा प्रवाह डाला हुआ थोड़ा भी नहीं कल्पता।[3]

---

१. आ.चू. (द्वि) पृ. ३१९– चरिमं दुविहं– भवचरिमं दिवसचरिमं च, तत्थ भवचरिमं णाम जावज्जीवं गतं, तस्स चत्तारि आगारा, दिवसचरिमस्स अणाभोगो सहस्सकारो महत्तरागारो सव्वसमाहितो जावज्जीवकस्स वि एमेव चत्तारि।

२. आ.हा.वृ. (द्वि), पृ. २४२– तत्थ दस विगतीओ– खीरं दधि णवणीयं घयं तैल्लं गुडो मधु मज्जं मंसं ओगाहिमगं च, तत्थ पंच खीराणि-गवीणं महिसीणं अजाणं एलियाणं उट्टीणं, उट्टीणं दधिं णत्थि, णवणीतं घतं पि, ते दधिणा विणा णत्थित्ति, दधिणवणीतघताणि चत्तारि, तेल्लाणि चत्तारि खर (तिल) अदसिकुसुंभसरिसवाणं, एताओ विगतीओ सेसाणि तेल्लाणि निव्विगतीतो, लेवाडाणि पुण होंति, दो वियडा-कट्ठुणिप्फण्णं उच्छुभाईपिट्ठेण य फाणित्ता, दोण्णि गुडा दवगुडो पिंडगुडो य, मधूणि तिण्णि, मच्छियं कोन्तियं भामरं, पोग्गलाणि तिण्णि, जलयरं थलयरं खहयरं, अथवा चम्मं मंसं सोणितं, एयाओ णव तिगतीतो, ओगहिमगं दसमं।

३. आ. हा. वृ. (द्वि), पृ. २४५०–पडुच्च मक्खियं पुण जति अंगुलीए गहाय मक्खेति तेल्लेण वा घतेण वा ताथे णिव्विगतियस्स कप्पति, अथ धाराए छुब्भति मणागं पि ण कप्पति।

सक्कत्थुई

११. नमोत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थयराणं सहसंबुद्धाणं पुरिसोत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोयगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवो ताणं सरण-गई-पइट्ठा अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टछउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं सव्वण्णूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुयमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावत्तयं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं[1] नमो जिणाणं जियभयाणं।

शक्रस्तुति

नमोऽस्तु अर्हद्भ्यः भगवद्भ्यः आदिकरेभ्यः तीर्थकरेभ्यः स्वयंसम्बुद्धेभ्यः पुरुषोत्तमेभ्यः पुरुषसिंहेभ्यः पुरुषवरपुंडरीकेभ्यः, पुरुषवरगंधहस्तिभ्यः लोकोत्तमेभ्यः लोकनाथेभ्यः लोकहितेभ्यः लोकप्रदीपेभ्यः लोकप्रद्योतकरेभ्यः अभयदयेभ्यः चक्षुर्दयेभ्यः मार्गदयेभ्यः शरणदयेभ्यः जीवदयेभ्यः बोधिदयेभ्यः धर्मदयेभ्यः धर्मदेशकेभ्यः धर्मनायकेभ्यः धर्मसारथिभ्यः धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्तिभ्यः द्वीपः त्राणं शरण-गति-प्रतिष्ठा अप्रतिहतवरज्ञानदर्शनधरेभ्यः विवृतछद्मभ्यः जिनेभ्यः जापकेभ्यः तीर्णेभ्यः तारकेभ्यः बुद्धेभ्यः बोधकेभ्यः मुक्तेभ्यः मोचकेभ्यः सर्वज्ञेभ्यः सर्वदर्शिभ्यः शिवमचलमरुजमनन्तमक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तकं सिद्धिगतिनामधेयं स्थानं सम्प्राप्ततेभ्यः नमो जिनेभ्यः जितभयेभ्यः।

शक्रस्तुति

मेरा नमस्कार हो अर्हत्, भगवान्, धर्म के आदिकर्त्ता, तीर्थंकर[1], स्वयं संबुद्ध, पुरुषोत्तम[2], पुरुषसिंह[3], पुरुषों में प्रवर पुंडरीक[4], पुरुषों में प्रवर गंधहस्ती[5], लोकोत्तम, लोकनाथ[6], लोकहितकारी, लोकप्रदीप[7], लोक में उद्योत करने वाले[8], अभयदाता[9], चक्षुदाता[10], मार्गदाता[11], शरणदाता[12], जीवनदाता[13], बोधिदाता[14], धर्मदाता, धर्मोपदेष्टा[15], धर्मनायक, धर्म सारथि[16], धर्म के प्रवर चतुर्दिक्जयी चक्रवर्ती को।[17] जो द्वीप हैं, त्राण हैं, शरण, गति और प्रतिष्ठा हैं। अबाधित प्रवरज्ञान-दर्शन के धारक[18], आवरण रहित, ज्ञाता और ज्ञान देने वाले को, तीर्ण और तारक को, बुद्ध और बोधिदाता को[19], मुक्त और मुक्तिदाता को[20], सर्वज्ञ और सर्वदर्शी[21] को, कल्याणकारी[22], अचल, अरुज, अनन्त, अक्षय, अव्याबाध, पुनरावृत्ति से रहित, सिद्धि गति नामक स्थान को सम्प्राप्त उन जिनेश्वरों भयविजेताओं को नमस्कार हो।

टिप्पण

1. धर्म के आदिकर्त्ता (आइगराणं)

धर्म का अर्थ है–प्रवचन (श्रुतधर्म)। आचारांग आदि ग्रन्थों के अर्थ का प्रणयन करने वाले आदिकर होते हैं।[2]

2. पुरुषोत्तम (पुरिसोत्तमाणं)

पुरुषोत्तम–पुरुषों में उत्तम। पुरुषों के मध्य उनके रूप आदि अतिशयों के कारण उत्तम।

3. पुरुषसिंह (पुरिससीहाणं)

पुरुषसिंह–पुरुषों में सिंह के समान पराक्रमी। सिंह शौर्य का प्रतीक है। सिंह जंगल में निर्भयतापूर्वक भ्रमण करता है एवं स्वयं के पराक्रम से ही जीवन निर्वाह करता है। तीर्थंकर अभय एवं पराक्रमी होते हैं।

4. पुरुषों में प्रवर पुंडरीक (पुरिसवरपुंडरीयाणं)

पुरुषों में प्रवर पुंडरीक–पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान। श्वेत कमल शुभ्रता का प्रतीक है। तीर्थंकर प्रतिपल शुक्लध्यान में अवस्थित रहते हैं। अभयदेवसूरि ने पुण्डरीक का अर्थ छत्र भी किया है। सन्ताप और आतप के निवारण में समर्थ पुरुष।[3]

5. पुरुषों में प्रवर गन्धहस्ती (पुरिसवरगंधहत्थीणं)

पुरुषों में श्रेष्ठ गन्धहस्ती। जैसे गंधहस्ती की गन्ध से समस्त दूसरे हाथी निस्तेज हो जाते हैं, मदहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के समक्ष अन्य वादी तेजहीन हो जाते हैं तथा जहां तीर्थंकर विचरण करते हैं वहां इति, परचक्र, दुर्भिक्ष, महामारी आदि बीमारियां नष्ट हो जाती हैं।[4]

6. लोकनाथ (लोगनाहाणं)

लोक अर्थात् संज्ञी भव्य प्राणियों के नाथ। संज्ञी भव्य प्राणियों के योगक्षेम (प्राप्त सम्यग्दर्शन की संपुष्टी एवं अप्राप्त सम्यग् दर्शन

१. संपाविउकामाणं–संप्राप्तुकामेभ्य–संप्राप्त करने वाले।

२. भ.वृ. १/७–श्रुतधर्मम्–आचारादिग्रन्थात्मकं करोति-तदर्थप्रणायकत्वेन प्रणयतीत्येवंशील आदिकरः।

३. वही, १/७–अथवा पुरुषाणां-तत्सेवकजीवानां वरपुण्डरीकमिव-वरच्छत्रमिव यः सन्तापातपनिवारणसमर्थत्वात्।

४. वही, १/७–यथा गन्धहस्तिनो गन्धेनापि समस्तेतरहस्तिनो भज्यन्ते तथा भगवतस्तद्देशविहरणेन ईतिपरचक्रदुर्भिक्षऽमरमरकादीनि दुरितानि नश्यन्तीति पुरुषवरगन्धहस्तीत्युच्यत इति।

आदि की प्राप्ति कराने में सक्षम) करने वाले नाथ।[1]

7. लोकप्रदीप (लोगपईवाणं)

जिस प्रकार दीपक प्रकाश करता है और अन्धकार को नष्ट करता है उसी प्रकार तीर्थंकर भी मनुष्य, तिर्यञ्च और देवताओं के अन्तर्तिमिर को दूर करते हैं।

8. लोक में उद्योत करने वाले (लोगपज्जोयगराणं)

तीर्थंकर अपने केवलज्ञान द्वारा संपूर्ण लोक को प्रकाशित करते हैं। इस विशेषण से हरि, हर, हिरण्यगर्भ आदि परतीर्थ मतों का निषेध किया गया है।[2]

9. अभयदाता (अभयदयाणं)

तीर्थंकर सभी प्राणियों को अभय देने वाले हैं। उनमें विशेष दया होती है। अतः किसी को उनसे भय नहीं होता है।[3]

10. चक्षुदाता (चक्खुदयाणं)

जिस प्रकार वन आदि में गए हुए व्यक्तियों को चोर लुटेरे धन आदि की इच्छा से आंखें बांध देते हैं फिर कोई उपकारी व्यक्ति उनकी आंख की पट्टी को दूर करता है, दूर कर उसे आगे का रास्ता दिखा देता है उसी प्रकार तीर्थंकर राग आदि चोर-लुटेरों द्वारा जिनका ज्ञान चक्षु आच्छादित हो गया है उनको श्रुतज्ञान रूपी चक्षु प्रदान कर निर्वाण मार्ग को दिखाते हैं। श्रुत ज्ञान रूपी चक्षु से संपन्न व्यक्ति ही हेय, उपादेय आदि भावों को सम्यक् देख सकता है।[4]

11. मार्गदाता (मग्गदयाणं)

जैसे चोरों द्वारा लुटे हुए व्यक्तियों को निरुपद्रव मार्ग दिखाने वाला परम उपकारी होता है उसी प्रकार तीर्थंकर प्राणियों को सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूपी मार्ग दिखाकर उनका परम उपकार करते है।[5]

12. शरणदाता (सरणदयाणं)

शरण का अर्थ है–त्राण, रक्षा का स्थान। जैसे उपद्रवग्रस्त व्यक्ति की रक्षा करने वाला व्यक्ति उपकारी होता है उसी प्रकार तीर्थंकर भव रोग से पीड़ित की रक्षा, शरण देने वाले होते हैं।[6]

13. जीवनदाता (जीवदयाणं)

तीर्थंकर संयमरूपी जीवन प्रदान करने वाले होते हैं।

14. बोधिदाता (बोहिदयाणं)

सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र–इन तीनों की प्राप्ति को बोधिलाभ कहा जाता है।

15. धर्मोपदेष्टा (धम्मदेसयाणं)

तीर्थंकर श्रुत और चारित्र रूपी धर्म की देशना देते हैं। अतः वे धर्मोपदेष्टा कहलाते है।[7]

16. धर्म सारथि (धम्मसारहीणं)

धर्म रूपी रथ का प्रवर्तन करने से तीर्थंकर धर्म सारथि कहलाते हैं। जैसे सारथि रथ की, घोड़ों की रक्षा करता है वैसे ही तीर्थंकर अपने उपदेश से धर्म रूपी रथ की रक्षा करते हैं।[8]

17. धर्म के प्रवर चतुर्दिक्जयी चक्रवर्ती (धम्मवरचक्कवट्टीणं)

जैसे चक्रवर्ती चार अन्त वाली पृथ्वी (तीन तरफ समुद्र एक तरफ हिमवान् पर्वत) का स्वामी होता है। उसी प्रकार तीर्थंकर चातुरन्त (चार गति रूप नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव) संसार का छेदन कराने वाले होते हैं। अतः उन्हें धर्म के प्रवर चतुर्दिक्जयी चक्रवर्ती कहा गया है।[9]

18. अबाधित प्रवर ज्ञान-दर्शन के धारक (अप्पडिहयवरनाण-दंसणधराणं)

ज्ञान विशेष अवबोध कराने वाला होता है। दर्शन सामान्य अवबोध कराने वाला होता है। छद्मस्थ अवस्था में ज्ञान और दर्शन आच्छादित रहते हैं। तीर्थंकरों के ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय का क्षय होने से उनका ज्ञान-दर्शन अनावृत होता है। अतः उन्हें अबाधित प्रवर ज्ञान-दर्शन के धारक कहा गया है।[10]

---

१. भ.वृ. १/७–लोगणाहे त्ति लोकस्य-सञ्ज्ञिभव्यलोकस्य नाथः-प्रभुर्लोकनाथः, नाथत्वं च योगक्षेमकारित्वं, तच्चास्याप्राप्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्योगकरणेन लब्धस्य च परिपालनेनेति।

२. वही, १/७–उक्तविशेषणोपेतश्च मिहिरहरिहरहिरण्यगर्भादिरपि....।

३. वही, १/७–अभया वा सर्वप्राणिभयपरिहारवती दया-अनुकम्पा यस्य सोऽभयदयः।

४. वही, १/७–यथाहि लोके कान्तारगतानां चौरैर्विलुप्तधनानां बद्धचक्षुषां चक्षुरुद्घाटनेन चक्षुर्दत्त्वा वाञ्छितमार्गदर्शनेनोपकारी भवति, एवमयमपि संसारारण्यवर्त्तिनां रागादिचौरविलुप्तधर्मधनानां कुवासनाऽऽच्छादितसज्ज्ञानलोचनानां तदपनयनेन श्रुतचक्षुर्दत्त्वा निर्वाणमार्गं यच्छन्नुपकारीति दर्शयन्नाह।

५. वही, १/७–मार्गं-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं परमपदपुरपथं दयत इति मार्गदयः। यथाहि लोके मार्गदर्शनं च कृत्वा चौरादिविलुप्तान् चक्षुरुद्घाटनं निरुपद्रवं स्थानं प्रापयन् परमोपकारी भवतीति।

६. वही, १/७–शरणं–त्राणं नानाविधोपद्रवोपद्रुतानां तद्रक्षास्थानं, तच्च परमार्थतो निर्वाणं तद् दयत इति शरणदयः।

७. वही, १/७–धर्म-श्रुतचारित्रात्मकं देशयतीति धर्मदेशकः।

८. वही, १/७–धर्मरथस्य प्रवर्त्तकत्वेन सारथिरिव धर्मसारथिः। यथा रथस्य सारथी रथं रथिकमश्वांश्च रक्षति एवं भगवान् चारित्र-धर्माङ्गानां संयमात्मप्रवचनाख्यानां रक्षणोपदेशाद्धर्मसारथिर्भवति।

९. वही, १/१७–धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टी त्ति त्रयः समुद्राश्चतुर्थश्च हिमवान् एते चत्वारोऽन्ता पृथिव्यन्ताः एतेषु स्वामितया भवतीति चातुरन्त, स चासौ चक्रवर्ती.....नारकादिगतीनामन्त-कारित्वाच्चतुरन्तं तदेव चातुरन्तं।

१०. वही, १/७–अत एव क्षायिकत्वाद्वा वरे–प्रधाने ज्ञानदर्शने केवलाख्ये विशेषसामान्यावबोधात्मके धारयति यः स तथा।

19. बुद्ध और बोधिदाता (बुद्धाणं बोहयाणं)

निरावरण होने से वे जीव-अजीव आदि का संपूर्ण रूप से ज्ञान कर सकते हैं अतः उन्हें बुद्ध कहा गया है। दूसरों को जीव आदि तत्त्वों का बोध कराने के कारण उन्हें बोधिदाता कहा गया है।[1]

20. मुक्त और मुक्तिदाता (मुत्ताणं मोयगाणं)

बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थि बन्धन से वे सर्वथा मुक्त हो जाते हैं अतः उन्हें मुक्त कहा गया है और दूसरों को कर्म बन्धन से मुक्त होने की प्रेरणा देने वाले होते हैं अतः उन्हें मुक्तिदाता कहा गया है।[2]

21. सर्वज्ञ और सर्वदर्शी (सव्वण्णूणं सव्वदरिसीणं)

वे समस्त वस्तुओं के स्वरूप को विशेष तथा सामान्य रूप से जानते हैं अतः उन्हें सर्वज्ञ और सामान्य रूप से उन्हें देखते है अतः उन्हें सर्वदर्शी कहा गया है।[3]

22. कल्याणकारी.....सिद्धिगति नामक स्थान (सिव..... सिद्धिगई नामधेयं)

प्रस्तुत आलापक में सिद्धिगति प्राप्त जीवों की अपेक्षा से कुछ विशेषण कहे गए हैं–

शिव–कल्याणकारी। अभयदेवसूरि ने शिव का अर्थ आबाधा रहित किया है।[4]

अचल–स्थिर-स्वाभाविक प्रायोगिक हलन-चलन के हेतु का अभाव।[5]

अरुज–सिद्ध अवस्था में शरीर और मन का अभाव होने से रोग रहित।[6]

अनन्त–अनन्त ज्ञान के धारक।[7]

अक्षय–अक्षत–क्षय रहित। पूर्णिमा के चन्द्रमा के मण्डल की तरह।[8]

अव्याबाध–व्यधान रहित। अभयदेवसूरि ने इसका अर्थ किया है–किसी दूसरों को पीड़ा नहीं देने वाले।[9]

पुनरावृत्ति से रहित–जन्म-मरण के चक्र से मुक्त।

---

१. भ.वृ. १/७–बुद्धो जीवादितत्त्वं बुद्धवान्। तथा बोहए त्ति जीवादितत्त्वस्य परेषां बोधयिता।

२. वही, १/७–मुत्ते त्ति मुक्तो बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिबन्धनेन मुक्तत्वात्। तथा मोयए त्ति परेषां कर्मबन्धनान्मोचयिता।

३. वही, १/७–सव्वन्नू सव्वदरिसी ति सर्वस्य वस्तुस्तोमस्य विशेषरूपतया ज्ञायकत्वेन सर्वज्ञः, सामान्यरूपतया पुनः सर्वदर्शी।

४. वही, शिवं सर्वाऽऽबाधारहित्वात्।

५. वही, अचलं स्वाभाविकप्रायोगिकचलनहेत्वभावात्।

६. वही, १/७–अरुजम् अविद्यमानरोगं तन्निबन्धनशरीरमनसोरभावात्।

७. वही, अनन्तम्–अनन्तार्थविषयज्ञानस्वरूपत्वात्।

८. वही, अक्षतं वा परिपूर्णत्वात्पौर्णमासीचन्द्रमण्डलवत्।

९. वही, अव्याबाधं परेषामपीडाकारित्वात्।

परिशिष्ट

परिशिष्ट-१
(भगवती ७/२९-३५)

पच्चक्खाण-पदं	प्रत्याख्यान पदम्	प्रत्याख्यान-पद
कतिविहे णं भंते! पच्चक्खाणे पण्णत्ते?	कतिविधं भदन्त! प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तम्?	भन्ते! प्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?
गोयमा! दुविहे पच्चक्खाणे पण्णत्ते, तं जहा–मूलगुणपच्चक्खाणे य, उत्तरगुण-पच्चक्खाणे य।।	गौतम! द्विविधं प्रत्याख्यानं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–मूलगुणप्रत्याख्यानं च, उत्तरगुणप्रत्याख्यानं च।	गौतम! प्रत्याख्यान के दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे–मूलगुणप्रत्याख्यान, उत्तरगुण-प्रत्याख्यान।
मूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते?	मूलगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्?	भन्ते! मूलगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?
गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–सव्व-मूलगुणपच्चक्खाणे य, देसमूल-गुणपच्चक्खाणे य।।	गौतम! द्विविधं प्रज्ञप्तम् तद् यथा–सर्वमूल-गुणप्रत्याख्यानं च, देशमूलगुणप्रत्याख्यानं च।	गौतम! दो प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे–सर्वमूल-गुणप्रत्याख्यान, देशमूलगुणप्रत्याख्यान।
सव्वमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते?	सर्वगुणमूलप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्?	भन्ते! सर्वमूलगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?
गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं, सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं।।	गौतम! पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–सर्वस्मात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, सर्वस्मान् मृषावादाद् विरमणम्, सर्वस्माद् अदत्तादानाद् विरमणम्, सर्वस्मान् मैथुनाद् विरमणम्, सर्वस्मात् परिग्रहाद् विरमणम्।	गौतम! पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे–सर्व-प्राणातिपात-विरमण, सर्व-मृषावाद-विरमण, सर्व-अदत्तादान-विरमण, सर्व-मैथुन-विरमण, सर्व-परिग्रह-विरमण।
देसमूलगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कति-विहे पण्णत्ते?	देशमूलगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्?	भन्ते! देशमूलगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?
गोयमा! पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, थूलाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं, थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं, थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं।।	गौतम! पञ्चविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–स्थूलात् प्राणातिपाताद् विरमणम्, स्थूलान् मृषावादाद् विरमणम्, स्थूलाद् अदत्तादानाद् विरमणम्, स्थूलान् मैथुनाद् विरमणम्, स्थूलात् परिग्रहात् विरमणम्।	गौतम! पांच प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे–स्थूल-प्राणातिपात-विरमण, स्थूल-मृषावाद-विरमण, स्थूल-अदत्तादान-विरमण, स्थूल-मैथुन-विरमण, स्थूल-परिग्रह-विरमण।
उत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते?	उत्तरगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्?	भन्ते! उत्तरगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?

गोयमा! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे य, देसुत्तर-गुणपच्चक्खाणे य।।	गौतम! द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–सर्वोत्तर-गुणप्रत्याख्यानं च, देशोत्तर-गुणप्रत्याख्यानं च।	गौतम! दो प्रकार हैं, जैसे सर्वउत्तरगुण-प्रत्याख्यान, देशउत्तरगुणप्रत्याख्यान।
सव्वुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते?	सर्वोत्तरगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्?	भन्ते! सर्वउत्तरगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?
गोयमा! दसविहे पण्णत्ते, तं जहा–गाहा–	गौतम! दशविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–गाथा–	गौतम! दस प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे–
१,२ अणागयमइक्कंतं, ३. कोडिसहियं ४. नियंटियं चेव। ५,६. सागारमणागारं, ७. परिमाणकडं ८. निरवसेसं। ९. संकेयं चेव १०. अद्धाए, पच्चक्खाणं भवे दसहा।।१।।	१,२. अनागतमतिक्रान्तं, ३. कोटिसहितं ४. नियन्त्रितं चैव। ५,६. सागारमनागारं ७. परिमाणकृतं ८. निरवशेषं। ९. संकेतं चैव १०. अद्धातः, प्रत्याख्यानं भवेद् दशधा।।१।।	गाथा– १. अनागत २. अतिक्रान्त ३. कोटि-सहित ४. नियन्त्रित ५. साकार ६. अनाकार ७. परिमाण-कृत ८. निरवशेष, ९. संकेत १०. अध्वा–इस प्रकार प्रत्याख्यान दस प्रकार का होता है।
देसुत्तरगुणपच्चक्खाणे णं भंते! कतिविहे पण्णत्ते?	देशोत्तरगुणप्रत्याख्यानं भदन्त! कतिविधं प्रज्ञप्तम्?	भन्ते! देशउत्तरगुणप्रत्याख्यान के कितने प्रकार प्रज्ञप्त हैं?
गोयमा! सत्तविहे पण्णत्ते, तं जहा–१. दिसिव्वयं २. उवभोगपरिभोगपरिमाणं ३. अणत्थदंडवेरमणं ४. सामाइयं ५. देसावगासियं ६. पोसहोववासो ७. अतिहिसंविभागो। अपच्छिम-मारणंतिय-संलेहणाझूसणाराहणता।।	गौतम! सप्तविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–१. दिग्व्रतम् २. उपभोगपरिभोगपरिमाणम् ३. अनर्थदण्डविरमणम् ४. सामायिकम् ५. देशावकाशिकम् ६. पौषाधोपवासः ७. अतिथिसंविभागः। अपश्चिम-मारणान्तिकसंलेखनाजूषणाराधनता।	गौतम! सात प्रकार प्रज्ञप्त हैं, जैसे–१. दिग्व्रत, २. उपभोग-परिभोग-परिमाण, ३. अनर्थदण्ड-विरमण, ४. सामायिक, ५. देशावकाशिक, ६. पौषधोपवास, ७. अतिथि-संविभाग। अपश्चिम-मारणान्तिकसंलेखना-जोषणा-आराधना।

(आवश्यकनिर्युक्ति भाष्य, गाथा २४१,२४२)

तं दुविहं सुअनोसुअ सुयं दुहा पुव्वमेव नोपुव्वं। पुव्वसुय नवमपुव्वं नोपुव्वसुयं इमं चेव।। नो सुअपच्चक्खाणं मूलगुणे चेव उत्तरगुणे य। मूले सव्वं देसं इत्तरियं आवकहियं च।।	तत् द्विविधं श्रुतं नो श्रुतं श्रुतं द्विधा पूर्वमेव नो पूर्वम्। पूर्वश्रुतं नवमपूर्वं नोपूर्वश्रुतं इदं चेव।। नोश्रुत प्रत्याख्यानं मूलगुणश्चैव उत्तरगुणश्च। मूले सर्वं देशं इत्वरिकं यावत्कथिकं च।।	वह प्रत्याख्यान दो प्रकार का हैं–१. श्रुत प्रत्याख्यान २. नोश्रुत प्रत्याख्यान। श्रुत प्रत्याख्यान दो प्रकार का हैं– १. पूर्वश्रुत–नौवां प्रत्याख्यान पूर्व। २. नोपूर्वश्रुत–प्रत्याख्यान अध्ययन (आवश्यक अध्ययन ६) नोश्रुत प्रत्याख्यान के दो प्रकार हैं–मूलगुण-उत्तरगुण। १. मूलगुण–सर्वमूलगुण (महाव्रत) देशमूलगुण (यावत्कथिक–५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत। इत्वरिक–४ शिक्षाव्रत)। २. उत्तरगुण–सर्वउत्तरगुण (दस प्रत्याख्यान)।

सम्मत्त-सुत्तं

तत्थ समणोवासओ पुव्वामेव मिच्छत्ताओ पडिक्कमइ, सम्मत्तं उवसंपज्जइ, नो से कप्पइ अज्जप्पभिई अन्नउत्थिए वा अन्नउत्थिअदेवयाणि वा अन्नउत्थिय-परिग्गहियाणि अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा पुव्विं अणालत्तएणं आलवित्तए वा संलवित्तए वा तेसिं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दाउं वा अणुप्पयाउं वा, नन्नत्थ रायाभिओगेणं गणाभिओगेणं बलाभिओगेणं देवयाभिओगेणं गुरुनिग्गहेणं वित्तीकंतारेणं। से य सम्मत्ते पसत्थ-समत्तमोहणियकम्माणुवेयणोवसमखय-समुत्थे पसमसंवेगाइलिंगे सुहे आयपरिणामे पण्णत्ते। सम्मत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा–संका कंखा वितिगिच्छा परपासंडपसंसा परपासंडसंथवे।

सम्यक्त्व-सूत्रम्

तत्र श्रमणोपासकः पूर्वमेव मिथ्यात्वाद् प्रतिक्रामति, सम्यक्त्वम् उपसंपद्यते, नो तस्य कल्पते अद्यप्रभृति अन्ययूथिकान् वा अन्ययूथिकदैवतानि वा अन्ययूथिक परिगृहीतानि अर्हत्चैत्यानि वा वंदितुं वा नमस्यितुं वा पूर्वं अनालपितेन आलपितुं वा संलपितुं वा, तेभ्यः अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा दातुं वा अनुप्रदातुं वा, नान्यत्र राजाभियोगात् गणाभियोगात् बलाभियोगात् देवताभियोगात् गुरुनिग्रहात् वृत्तिकान्तारात्। तत् च सम्यक्त्वं प्रशस्तसमाप्तमोहनीय-कर्माणुवेदनोपशमक्षयसमुत्थं प्रशमसंवेगादि-लिंगं शुभं आत्मपरिणामः प्रज्ञप्तः। सम्यक्त्वस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः न समाचरितव्याः, तद् यथा–शंका कांक्षा विचिकित्सा परपाषण्ड-प्रशंसा परपाषण्डसंस्तवः।

सम्यक्त्व सूत्र

श्रमणोपासक पहले मिथ्यात्व का प्रतिक्रमण करता है, सम्यक्त्व को स्वीकार करता है। अन्तीर्थिक, अन्यतीर्थिक देव तथा अन्यतीर्थिकों द्वारा स्वीकृत अर्हत्-चैत्यों को वंदन नमस्कार करना, बिना बोलाए उनसे आलाप-संलाप करना, उनको अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आदि देना, बार-बार देना नहीं कल्पता। ये आगार (अपवाद) हैं–जैसे–१. राजाभियोग २. गणाभियोग ३. बलाभियोग ४. देवताभियोग ५. गुरु (जन) निग्रह, ६. वृत्तिकान्तार।

वह प्रशस्त सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के अनुवेदन, उपशम, क्षय से उत्पन्न, प्रशम, संवेग आदि चिह्न वाला, शुभ आत्म परिणाम वाला प्रज्ञप्त है।

श्रमणोपासक को सम्यक्त्व के ये पांच अतिचार जानने चाहिए, उनका समाचरण नहीं करना चाहिए। जैसे–१. शंका २. कांक्षा ३. विचिकित्सा ४. परपाषंडप्रशंसा ५. परपाषंड संस्तव।

थूलगपाणाइवायविरमण-सुत्तं

थूलगपाणाइवायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से पाणाइवाए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–संकप्पओ अ आरंभओ अ। तत्थ समणोवासओ संकप्पओ जावज्जीवाए पच्चक्खाइ, नो आरंभओ। थूलगपाणाइवायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा तं जहा–बंधे वहे छविच्छेए अइभारे भत्तपाणवुच्छेए।

स्थूलकप्राणातिपातविरमण-सूत्रम्

स्थूलकप्राणातिपातं श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति, स प्राणातिपातः द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–संकल्पकश्च आरंभकश्च। तत्र श्रमणोपासकः संकल्पकः यावज्जीवं प्रत्याख्याति नो आरंभकः। स्थूलक-प्राणातिपातविरमणस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–बंधः वधः छविच्छेदः अतिभारः भक्तपान व्यच्छेदः।

स्थूलप्राणातिपात-विरमण-सूत्र

श्रमणोपासक स्थूल प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता है। वह प्राणातिपात दो प्रकार का प्रज्ञप्त है–१. संकल्पज २. आरंभज। श्रमणोपासक संकल्पज का यावज्जीवन प्रत्याख्यान करता है, आरंभज का नहीं। श्रमणोपासक को स्थूलप्राणातिपात विरमण के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. बंध २. वध ३. छविच्छेद ४. अतिभार ५. भक्तपान-व्यवच्छेद।

थूलगमुसावायविरमण-सुत्तं

थूलगमुसावायं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से य मुसावाए पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा–कन्नालीए गवालीए

स्थूलकमृषावादविरमण-सूत्रम्

स्थूलकमृषावादं श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति, स च मृषावादः पञ्चविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा– कन्यालीकः गवालीकः भूम्यलीकः

स्थूलमृषावाद-विरमण-सूत्र

श्रमणोपासक स्थूलमृषावाद का प्रत्याख्यान करता है। वह मृषावाद पांच प्रकार का प्रज्ञप्त है–१. कन्यालीक २. गवालीक ३. भूम्यलीक

भोमालीए नासावहारे कूडसक्खिज्जे। थूलग-मुसावायवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–सहस्सब्भक्खाणे रहस्सब्भक्खाणे सदारमंतभेए मोसुवएसे कूडलेहकरणे।

न्यासापहारः कूटसाक्ष्यम्। स्थूलकमृषावाद-विरमणस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–सहसाभ्याख्यानं रहस्याभ्याख्यानं स्वदारमंत्रभेदः मृषोपदेशः कूटलेखकरणम्।

४. न्यासापहार ५. कूटसाक्षी। श्रमणोपासक को स्थूलमृषावाद विरमण के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. सहसा अभ्याख्यान २. रहस्य अभ्याख्यान ३. स्वदार-मंत्रभेद ४. मृषोपदेश ५. कूटलेखकरण।

थूलगअदत्तादाणविरमण-सुत्तं

थूलगअदत्तादाणं समणोवासओ पच्चक्खाइ, से अदिन्नादाणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–सचित्तादत्तादाणे अचित्तादत्तादाणे अ। थूलादत्तादाणवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–तेनाहडे तक्करपओगे विरुद्धरज्जाइक्कमणे कूडतुलकूडमाणे तप्पडिरूवगववहारे।

स्थूलक-अदत्तादानविरमण-सूत्रम्

स्थूलक-अदत्तादानं श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति, तद् अदत्तादानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–सचित्तादत्तादानं अचित्तादत्तादानं च। स्थूलक-अदत्तादानविरमणस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–स्तेनाहृतः तस्करप्रयोगः विरुद्धराज्यातिक्रमः कूटतुला-कूटमानं तत्प्रतिरूपकव्यवहारः।

स्थूल-अदत्तादान-विरमण-सूत्र

श्रमणोपासक स्थूलअदत्तादान का प्रत्याख्यान करता है। वह अदत्तादान दो प्रकार का प्रज्ञप्त है–१. सचित्त अदत्तादान २. अचित्त अदत्तादान। श्रमणोपासक को स्थूलअदत्तादान विरमण के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. स्तेनाहृत २. तस्करप्रयोग ३. विरुद्धराज्यातिक्रम ४. कूट तुला-कूटमान ५. तत्प्रतिरूपक व्यवहार।

थूलगअंभचेरविरमण-सुत्तं

परदारगमणं समणोवासओ पच्चक्खाइ सदारसंतोसं वा पडिवज्जइ, से य परदार-गमणे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–ओरालियपरदारगमणे वेउव्वियपरदारगमणे। सदारसंतोसस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–अपरिगहियागमणे इत्तरियपरिगहियागमणे अणंगकीडा परवीवाहकरणे कामभोगतिव्वाभिलासे।

स्थूलक-अब्रह्मचर्यविरमण-सूत्रम्

परदारगमनं श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति स्वदारसंतोषं वा प्रतिपद्यते, तत् च परदारगमनं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा–औदारिकपरदारगमनं वैक्रिय परदारगमनम्। स्वदारसंतोषस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–अपरिगृहीतागमनं इत्वरिक-परिगृहीतागमनं अनंगक्रीडा परविवाहकरणं कामभोगतीव्राभिलाषः।

स्थूल-अब्रह्मचर्य-विरमण-सूत्र

श्रमणोपासक परस्त्रीगमन का प्रत्याख्यान करता है। स्वदारसंतोष को स्वीकार करता है। वह परस्त्रीगमन दो प्रकार का प्रज्ञप्त है। जैसे–१. औदारिक परस्त्रीगमन, २. वैक्रिय-परस्त्रीगमन। श्रमणोपासक को स्वदारसंतोष के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. अपरिगृहीतागमन २. इत्वरिक परिगृहीतागमन ३. अनंगक्रीडा ४. परविवाहकरण ५. कामभोगतीव्राभिलाषा।

थूलगइच्छापरिमाण-सुत्तं

अपरिमियपरिग्गहं समणोवासओ पच्चक्खाइ इच्छापरिमाणं उवसंपज्जइ, से परिग्गहे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–सचित्तपरिग्गहे अचित्तपरिग्गहे य। इच्छापरिमाणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–धणधन्नपमाणाइक्कमे खित्तवत्थुपमाणइक्कमे हिरन्नसुवन्नपमाणाइक्कमे दुपयचउप्पयपमाणाइक्कमे कुवियपमाणाइक्कमे।

स्थूलक-इच्छापरिमाण-सूत्रम्

अपरिमितपरिग्रहं श्रमणोपासकः प्रत्याख्याति इच्छापरिमाणं उपसंपद्यते, स परिग्रहः द्विविधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा–सचित्तपरिग्रहः अचित्तपरिग्रहश्च। इच्छापरिमाणस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा धनधान्यप्रमाणातिक्रमः क्षेत्रवास्तुप्रमाणातिक्रमः हिरण्यसुवर्ण-प्रमाणातिक्रमः द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमः कुप्यप्रमाणातिक्रमः।

स्थूल-इच्छा-परिमाण-सूत्र

श्रमणोपासक अपरिमितपरिग्रह का प्रत्याख्यान करता है। इच्छापरिमाण को स्वीकार करता है। वह परिग्रह दो प्रकार का प्रज्ञप्त है–१. सचित्त परिग्रह, २. अचित्त परिग्रह। श्रमणोपासक को इच्छापरिमाण के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. धन-धान्यप्रमाणातिक्रम २. क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम ३. हिरण्य-सुवर्ण प्रमाणातिक्रम ४. द्विपद-चतुष्पद प्रमाणातिक्रम ५. कुप्यप्रमाणातिक्रम।

दिसिवय-सुत्तं

दिसिवए तिविहे पण्णत्ते–उड्ढदिसिवए अहोदिसिवए तिरियदिसिवए। दिसि-वयस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–उड्ढ दिसिपमाणाइक्कमे अहोदिसि-पमाणाइक्कमे तिरियदिसिपमाणाइ-क्कमे खित्तवुड्ढी सइअंतरद्धा।

दिग्व्रत-सूत्रम्

दिग्व्रतं त्रिविधं प्रज्ञप्तं–ऊर्ध्वदिग्व्रतं अधः दिग्व्रतं तिर्यक् दिग्व्रतम्। दिग्व्रतस्य श्रमणोपासकेन पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–ऊर्ध्वदिक् प्रमाणातिक्रमः अधोदिक्-प्रमाणातिक्रमः तिर्यक्दिक्-प्रमाणातिक्रमः क्षेत्रवृद्धिः स्मृति-अन्तर्धा।

दिग्व्रत-सूत्र

दिग्व्रत तीन प्रकार का प्रज्ञप्त है–१. ऊर्ध्वदिग्व्रत २. अधोदिग्व्रत ३. तिर्यक् दिग्व्रत। श्रमणोपासक को दिग्व्रत के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम २. अधोदिक् प्रमाणातिक्रम ३. तिर्यक्-प्रमाणातिक्रम ४. क्षेत्रवृद्धि ५. स्मृति-अन्तर्धान।

उवभोगपरिभोगवय-सुत्तं

उवभोगपरिभोगवए दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–भोअणओ कम्मओ अ। भोअणओ समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–सचित्ताहारे सचित्तपडिबद्धाहारे अप्पउलिओसहिभक्खणया। तुच्छो-सहिभक्खणया दुप्पउलिओसहि-भक्खणया।

कम्मओ णं समणोवासएणं इमाइं पन्नरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, तं जहा– इंगालकम्मे वणकम्मे साडीकम्मे भाडी-कम्मे फोडीकम्मे दंतवाणिज्जे लक्ख-वाणिज्जे रसवाणिज्जे केसवाणिज्जे विसवाणिज्जे जंतपीलणकम्मे निल्लंछणकम्मे दवग्गिदावणया सरदहतलायसोसणया असईपोसणया।

उपभोगपरिभोगव्रत-सूत्रम्

उपभोगपरिभोगव्रतं द्विविधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा– भोजनतः कर्मतश्च। भोजनतः श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा– सचित्ताहारः सचित्तप्रतिबद्धाहारः अपक्वौषधिभक्षणता तुच्छौषधिभक्षणता दुष्पक्वौषधिभक्षणता।

कर्मतः श्रमणोपासकेन इमानि पञ्चदश कर्मादानानि ज्ञातव्यानि, तद् यथा– अङ्गारकर्म वनकर्म शकटीकर्म भाटीकर्म स्फोटीकर्म दन्तवाणिज्यं लाक्षावाणिज्यं रसवाणिज्यं केशवाणिज्यं विषवाणिज्यं यन्त्रपीडनकर्म निर्लाञ्छनकर्म दवाग्निदापणता सरोद्रहतडागशोषणता असतीपोषणता।

उपभोग-परिभोग-व्रत-सूत्र

उपभोग परिभोगव्रत दो प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे–भोजन से और कर्म से। श्रमणोपासक को भोजन के ये पांच अतिचार जानने चाहिए, जैसे–१. सचित्त आहार २. सचित्त प्रतिबद्ध आहार ३. अपक्व औषधि भक्षणता ४. तुच्छ औषधि भक्षणता ५. दुष्पक्व औषधि भक्षणता।

श्रमणोपासक को कर्म (कार्य) संबंधी पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिए, जैसे–१. अंगार कर्म २. वन कर्म ३. शकट कर्म ४. भाटक कर्म ५. स्फोट कर्म ६. दंत वाणिज्य ७. लाक्षावाणिज्य ८. रस वाणिज्य ९. केश वाणिज्य १०. विष वाणिज्य ११. यंत्रपीडनकर्म १२. निर्लाञ्छन कर्म १३. दवाग्निदापनता १४. सर-द्रह-तडाग शोषण १५. असतीपोषणता।

अणत्थदंडविरमण-सुत्तं

अणत्थदंडे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–अवज्झाणारिए पमत्तायरिए हिंसप्पयाणे पावकम्मोवएसे। अणत्थदंडवेरमणस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–कंदप्पे कुक्कुइए मोहरिए संजुत्ताहिगरणे उवभोग-परिभोगाइरेगे।

अनर्थदण्डविरमण-सूत्रम्

अनर्थदण्डं चतुर्विधं प्रज्ञप्तम्, तद् यथा अपध्यानाचरितं प्रमादाचरितं हिंस्रप्रदानं पापकर्मोपदेशः। अनर्थदण्डविरमणस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–कन्दर्पः कौत्कुच्यः मौखर्यः संयुक्ताधिकरणं उपभोग-परिभोगातिरेकः।

अनर्थदण्डविरमण-सूत्र

अनर्थदण्ड चार प्रकार का प्रज्ञप्त है, जैसे–१. अपध्यानाचरित २. प्रमादाचरित ३. हिंसाप्रदान ४. पापकर्मोपदेश। श्रमणोपासक को अनर्थदण्डविरमण के ये पांच अतिचार जानने चाहिए, जैसे–१. कन्दर्प २. कौत्कुच्य ३. मौखरिक ४. संयुक्त अधिकरण ५. उपभोगपरिभोगातिरेक।

सामाइय-सुत्तं

सामाइयं नाम सावज्ज्जोग-
परिवज्जणं निरवज्जजोगपडिसेवणं च।
सिक्खा दुविहा गाहा
उववायठिई गई कसाया य।
बंधंता वेयंता
पडिवज्जाइक्कमे पंच ।।१ ।।

सामाइअंमि उ कए
समणो इव सावओ हवइ जम्हा।
एएण कारणेणं बहुसो
सामाइयं कुज्जा ।।२ ।।

सव्वं ति भाणिऊणं विरई
खलु जस्स सव्विया नत्थि।
सो सव्वविरइवाई चुक्कइ
देसं च सव्वं च ।।३ ।।
सामाइयस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–मण-दुप्पणिहाणे वइदुप्पणिहाणे काय-दुप्पणिहाणे, सामाइयस्स सइअकरणया, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणया।

देसावगासियव्वय-सुत्तं

दिसिव्वयगहियस्स दिसापरिमाणस्स पइदिणं परिमाणकरणं देसावगासियं। देसावगासियस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–आणवणप्पओगे पेसवणप्पओगे सद्दाणुवाए रूवाणुवाए, बहिया पुग्गलपक्खेवे।

पोसहोववास-सुत्तं

पोसहोववासे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा–आहारपोसहे सरीरसक्कारपोसहे बंभचेर-पोसहे अव्वावारपोसहे। पोसहोववासस्स समणोवासएणं इमे

सामायिक-सूत्रम्

सामायिकं नाम सावद्ययोग-
परिवर्जनं निरवद्य-योगपरिसेवनं च।
शिक्षा द्विविधा गाथा
उपपातस्थितिः गतिः कषायाः च।
बध्दनन्तः वेदयन्तः
प्रतिपद्यातिक्रमाः पञ्च।

सामायिके तु कृते
श्रमणः इव श्रावकः भवति यस्मात्।
एतेन कारणेन बहुशः
सामायिकं कुर्यात्।

सर्वमिति भणित्वा विरतिः
खलु यस्य सार्विका नास्ति।
स सर्वविरतिवादी स्खलति
देशं च सर्वं च।
सामायिकस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–मनो-दुष्प्रणिधानं वाक्दुष्प्रणिधानं कायदुष्प्रणिधानं सामायिकस्य स्मृति-अकरणता सामायिकस्य अनवस्थितस्य करणम्।

देशावकाशिकव्रत-सूत्रम्

दिग्व्रतग्रहितस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं परिमाणकरणं देशावकाशिकम्। देशावकाशिकस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–आज्ञापनप्रयोगः प्रेष्यानयनप्रयोगः शब्दानुपातः रूपानुपातः बहिः पुद्गलप्रक्षेपः।

पौषधोपवास-सूत्रम्

पौषधोपवासः चतुर्विधः प्रज्ञप्तः, तद् यथा–आहारपौषधः शरीरसत्कारपौषधः ब्रह्मचर्य-पौषधः अव्यापारपौषधः। पौषधोपवासस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः

सामायिक-सूत्र

सावद्य योग का वर्जन करना और निरवद्य योग का प्रतिसेवन करना सामायिक है। शिक्षा दो प्रकार की है–(गाथा १) उपपातस्थिति, गति, कषाय, बन्धन और वेदन। ये पांच अतिक्रम कहे गए हैं।

सामायिक करने पर श्रावक साधु की तरह हो जाता है। इस कारण से बहुत बार (अनेक बार) सामायिक करनी चाहिए।

सर्वविरति है–ऐसा कहकर भी जिसके सर्वविरति नहीं है वह सर्वविरतिवादी देश विरति और सर्वविरति से चूक जाता है।

श्रमणोपासक को सामायिक के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. मनोदुष्प्रणिधान २. वाक्-दुष्प्रणिधान ३. काय-दुष्प्रणिधान ४. सामायिक की स्मृति न करना ५. सामायिक को अनवस्थित करना।

देशावकाशिक व्रत-सूत्र

दिग्व्रत में ग्रहण किए हुए दिशाओं के परिमाण का प्रतिदिन परिमाण करना देशावकाशिक व्रत है। श्रमणोपासक को देशावकाशिक के ये पांच अतिचार जानने चाहिए। जैसे–१. आनयनप्रयोग २. प्रेष्यप्रयोग ३. शब्दानुपात ४. रूपानुपात ५. बहिःपुद्गल प्रक्षेप।

पौषधोपवास-सूत्र

पौषधोपवास चार प्रकार का प्रज्ञप्त है। जैसे–१. आहार पौषध २. शरीर-सत्कार पौषध ३. ब्रह्मचर्य पौषध ४. अव्यापार पौषध। श्रमणोपासक को पौषधोपवास के ये

पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा– अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-सिज्जा-संथारए अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-सिज्जासंथारए अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहिय-उच्चार-पासवणभूमीओ अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जिय-उच्चार-पासवण-भूमीओ पोसहोववासस्स सम्मं अणणुपालणया।

ज्ञातव्याः, तद् यथा–
अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारकः अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारकः अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रस्रवणभूमिकः अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चारप्रस्रवणभूमिकः पौषधोपवासस्य सम्यक् अननुपालनं।

पांच अतिचार जानने चाहिए, जैसे–
१. प्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित शय्या-संस्तारक २. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक ३. अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवण-भूमि ४. अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चार-प्रस्रवण-भूमि ५. पौषधोपवास का सम्यक् अननुपालन।

अतिथिसंविभाग-सुत्तं

अतिहिसंविभागो नाम नायागयाणं कप्पणिज्जाणं अन्नपाणाईणं दव्वाणं देसकालसद्धा-सक्कारकमजुअं पराए भत्तीए आयाणुग्गहबुद्धीए संजयाणं दाणं। अतिहिसंविभागस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–सच्चित्तनिक्खेवणया सच्चित्त-पिहणया कालाइक्कमे परववएसे मच्छरिया य।

अतिथिसंविभाग-सूत्रम्

अतिथिसंविभागः नाम ज्ञातागतानां कल्पनीयानां अन्नपानादीनां द्रव्याणां देशकाल-श्रद्धासत्कारकर्मयुतं परया भक्त्या आत्मानुग्रहबुद्ध्या संयतां दानम्। अतिथि-संविभागस्य श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद् यथा–सचित्त-निक्षेपणता सचित्तपिधानता कालातिक्रमः परव्यपदेशः मात्सर्यम् च।

अतिथि संविभाग-सूत्र

ज्ञातासूत्र में आए हुए कल्पनीय अन्न, पान आदि द्रव्यों का देश, काल, श्रद्धा, सत्कार से युक्त, उत्कृष्ट भक्ति से, आत्मानुग्रहबुद्धि से संयति को दान देना अतिथिसंविभाग व्रत है। श्रमणोपासक को अतिथिसंविभाग के ये पांच अतिचार जानने चाहिए, जैसे–१. सचित्त निक्षेपणता २. सचित्त पिधानता ३. कालातिक्रम ४. पर-व्यपदेश ५. मत्सरता।

उवसंहार-सुत्तं

इत्थं पुण समणोवासगधम्मे पंचाणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं आवकहियाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं इत्तरियाइं। एयस्स पुणो समणोवासगधम्मस्स मूलवत्थुं सम्मत्तं, तं जहा–तं निसग्गेण वा अभिगमेण वा पंच अइयारविसुद्धं अणुव्वय-गुणव्वयाइं च अभिग्गहा अन्नेवि पडिमादओ विसेसकरणजोगा।

उपसंहार-सूत्रम्

अत्र पुनः श्रमणोपासकधर्मे पञ्चाणुव्रतानि त्रीणि गुणव्रतानि यावत्कथितानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि इत्वरिकानि। एतस्य पुनः श्रमणोपासकधर्मस्य मूलवस्तु सम्यक्त्वम्, तद् यथा–तद् निसर्गेन वा अभिगमेन वा पञ्च अतिचारविशुद्धं अणुव्रत-गुणव्रतानि च अभिग्रहाः अन्येपि प्रतिमादयः विशेषकरणयोगाः।

उपसंहार-सूत्र

इस प्रकार श्रमणोपासक धर्म में पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत यावत्कथिक (जीवन पर्यन्त), चार शिक्षाव्रत इत्वरिक (समयबद्ध) हैं। इस श्रमणोपासक धर्म की मूल वस्तु सम्यक्त्व है। जैसे–निसर्ग से और अभिगम से। पांच अतिचारों से विशुद्ध अणुव्रत, गुणव्रत, अभिग्रह और अन्य प्रतिमा आदि विशेष करण योग (प्रवृत्तियां) हैं।

संलेहणा-सुत्तं

अपच्छिमा मारणंतिया संलेहणा-झूसणाराहणया। इमीसे समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणियव्वा, तं जहा–इहलोगासंसप्पओगे परलोगा-संसप्पओगे जीवियासंसप्पओगे मरणा-संसप्पओगे कामभोगासंसप्पओगे।

संलेखना-सूत्रम्

अपश्चिमा-मारणांतिका संलेखनाजोषणा-आराधनता। अस्याः श्रमणोपासकेन इमे पञ्च अतिचाराः ज्ञातव्याः, तद्यथा–इहलोकाशंसाप्रयोगः परलोकाशंसाप्रयोगः जीविताशंसाप्रयोगः मरणाशंसाप्रयोगः कामभोगाशंसाप्रयोगः।

संलेखना-सूत्र

श्रमणोपासक को अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखन-पोषणा-आराधना के ये पांच अतिचार जानने चाहिए, जैसे–१. इहलोक आशंसा प्रयोग २. परलोक आशंसा प्रयोग ३. जीवित आशंसा प्रयोग ४. मरणआशंसा प्रयोग ५. कामभोग आशंसा प्रयोग।

परिशिष्ट-२
व्यक्ति, देव, स्थान नामानुक्रम

अ

अंब ४/८ (टि.)
अंबरिषी ४/८ (टि.)
अचिरा २/१ (टि.)
अजित २/१, २/१ (टि.), ५/४
अनन्त २/१, २/१ (टि.), ५/४
अभयदेवसूरि अध्ययन १ आमुख, ६/११ (टि.)
अर २/१, २/१ (टि.), ५/४
अरणक ४/८ (टि.)
अरिष्टनेमि २/१, २/१ (टि.), ५/४
असि ४/८ (टि.)
असिपत्र ४/८ (टि.)

आ

आचार्य आत्रेय १/२ (टि.)
आचार्य पुष्पदन्त १/आमुख
आचार्य भद्रबाहु ५/आमुख
आचार्य भिक्षु ४/८ (टि.)
आचार्य मलयगिरी १/आमुख
आचार्य वसूभूति ४/८ (टि.)
आचार्य वीरसेन १/आमुख
आचार्य हरिभद्र ४/२, ४/८ (टि.)
आचार्य हेमचन्द्र १/१ (टि.)

इ

इलापुत्र १/२ (टि.)
इलावर्धन १/२ (टि.)

उ

उपरौद्र ४/८ (टि.)

ऋ

ऋषभ २/१, २/१ (टि.), ४/९,५/४

ए

एलाचीपुत्र ४/८ (टि.)

ऐ

ऐरवत ३/१ (टि.)

क

कनकरथ १/२ (टि.)
कपिल १/२ (टि.)
काल ४/८ (टि.)
कालक १/२ (टि.)
कुंभि ४/८ (टि.)
कुन्दकुन्दाचार्य १/१ (टि.)
कुन्थु २/१, २/१ (टि.), ५/४

ख

खरस्वर ४/८ (टि.)
खारवेल १/आमुख

च

चन्द्रप्रभ २/१, २/१ (टि.), ५/४
चिलातक १/२ (टि.)
चिलाता १/२ (टि.)

ज

जयाचार्य २/आमुख
जितशत्रु १/२ (टि.)
जिनदासगणि महत्तर ४/५ (टि.)
जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण १/आमुख
जिनरक्षित जिनपाल ४/८ (टि.)

ड

डा. पिशेल १/१ (टि.)

त

तेतलिपुत्र १/२ (टि.)

द

दत्त १/२ (टि.)
दमदन्त १/२ (टि.)
दुर्योधन १/२ (टि.)
दूतिपलाश चैत्य ३/१ (टि.)
दृढ़रथ २/१ (टि.)
देवराज इन्द्र २/१ (टि.)
द्रौपदी ४/८ (टि.)

ध

धन सार्थवाह १/२ (टि.)
धर्म २/१, २/१ (टि.), ५/४
धर्मरुचि १/२ (टि.)
धारिणी १/२ (टि.)

न

नंदीवर्धन ४/८ (टि.)
नमि २/१, २/१ (टि.), ५/४

प

पंचाल १/२ (टि.)
पंडर आर्या ४/८ (टि.)

पण्डित आशाधर ४/८ (टि.)
पद्मप्रभ २/१, २/१ (टि.), ५/४
पार्श्व २/१, २/१ (टि.), ५/४
पुण्डरीक-कुण्डरीक ४/८ (टि.)
पुष्यमित्र ४/८ (टि.)
पोट्टिल देव १/२ (टि.)
पोट्टिला १/२ (टि.)
प्रभावती २/१ (टि.)

ब

बालुका ४/८ (टि.)
बृहस्पति १/२ (टि.)
ब्रह्मदत्त ४/८ (टि.)

भ

भगवान् पार्श्व १/आमुख
भगवान् महावीर १/आमुख
भरत ३/१ (टि.)

म

मंगू ४/८ (टि.)
मगध ४/८ (टि.)
मणिरथ-मदनरेखा ४/८ (टि.)
मल्लि २/१, २/१ (टि.), ५/४
मल्लिकुमारी ४/८ (टि.)
मरुदेवी २/१ (टि.)
महाकाल ४/८ (टि.)
महाघोष ४/८ (टि.)
महावीर ४/९
मुंडिकाम्रक ४/८ (टि.)
मुनि सुव्रत २/१, २/१ (टि.), ५/४
मेतार्य १/२ (टि.)

र

रथनेमि ४/८ (टि.)
राजगृह १/२ (टि.)
राजीमती ४/८ (टि.)
रूपीराय ४/८ (टि.)
रौद्र ४/८ (टि.)

व

वज्रसूरी १/आमुख
वज्रस्वामी १/आमुख
वप्रा २/१ (टि.)
वर्द्धमान २/१, २/१ (टि.), ५/४
वासुपूज्य २/१, २/१ (टि.), ५/४
विमल २/१, २/१ (टि.), ५/४
वीरसेनाचार्य १/१ (टि.)
वेतरणी ४/८ (टि.)

श

शबल ४/८ (टि.)
शय्यंभव १/आमुख
शांति २/१, २/१ (टि.), ५/४
शालिग्राम ४/८ (टि.)
शिम्बावर्द्धन ४/८ (टि.)
शिवा २/१ (टि.)
शीतल २/१, २/१ (टि.), ५/४
शैलक ४/८ (टि.)
श्यामा ४/८ (टि.)
श्यामा २/१ (टि.)
श्री २/१ (टि.)
श्रेयांस २/१, २/१ (टि.), ५/४

स

सम्भूत ४/८ (टि.)
संभव २/१, २/१ (टि.), ५/४
सुंसमा १/२ (टि.)
सुपार्श्व २/१, २/१ (टि.), ५/४
सुव्रता २/१ (टि.)
सुविधि २/१, २/१ (टि.), ५/४
सोमिल ३/१ (टि.)

ह

हस्तिनापुर १/२ (टि.)
हस्तिशीर्ष १/२ (टि.)

परिशिष्ट-३
टिप्पण विषयानुक्रम

अ	
अकल्प्य	४/३
अजित	२/१
अभिनन्दन	२/१
अट्ठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य से	४/८
अट्ठारह प्रकार के आचार प्रकल्पों से	४/८
अट्ठारह हजार शीलांगों के धारक	४/९
अढाई द्वीप-समुद्रों में	४/९
अतिक्रम....अनाचार	४/७
अतिमात्र नींद....बार-बार नींद लेने में	४/५
अध्ययन षट्कवर्ग	उपोद्घात
अनन्त	२/१
अनाभोग	६/१
अबाधित प्रवर ज्ञान-दर्शन के धारक	६/११
अभक्तार्थ उपवास	६/७
अभयदाता	६/११
अर	२/१
अरिष्टनेमि	२/१
अर्हत्	१/१
अशुभ ध्यान किया हो	४/३
असंयम से	४/८
अस्वाध्यायिक में स्वाध्याय किया हो	४/८
आ	
आकुञ्चन-प्रसारण	६/४
आचामाम्ल	६/६
आचार्य	१/१
आठ प्रवचनमाता	४/३
आठों मदस्थानों से	४/८
आराधना	उपोद्घात
आरोग्य	२/१
आवश्यक	उपोद्घात
आवश्यक अधिकार	उपोद्घात
इ	
इकतीस सिद्धों के आदि गुणों से	४/८
ई	
ईक्कीस शबलों से	४/८
ईर्यापथ सम्बन्धी विराधना	४/४
उ	
उच्छ्वास, निःश्वास....कायोत्सर्ग	५/३
उत्तम समाधि	२/१
उत्सूत्र	४/३
उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष के द्वारा अपरिशुद्ध	४/६
उनकी दिशा बदली हो	४/४
उनतीस पापश्रुत प्रसंगों से	४/८
उन्नीस ज्ञाता के अध्ययनों से	४/८
उन्मार्ग	४/३
उन्हें इकट्ठा किया हो	४/४
उन्हें उत्त्रासित किया हो	४/४
उन्हें क्लान्त किया हो	४/४
उन्हें चोट पहुंचाई हो	४/४
उन्हें परितप्त किया हो	४/४
उपाध्याय	१/१
उससे संबंधित मेरा दुष्कृत निष्फल हो	४/३
ऋ	
ऋषभ	२/१
ए	
एकस्थान	६/५
एकाशन	६/३

ओ	
ओस	४/४
क	
कर्म-रज-मल	२/१
कल्याणकारी....सिद्धिगति नामक स्थान	६/११
कषायों से	४/८
कामगुणों से	४/८
कीर्त्तन करूंगा	२/१
कीचड़	४/४
कीटिका नगर	४/४
कुछ बंद	४/६
कुन्थु	२/१
केवली	२/१
केवली प्रज्ञप्त धर्ममंगल है	४/२
केवली प्रज्ञप्त धर्म लोकोत्तम है	४/२
क्षमाश्रमण	३/१
क्रियायों से	४/८
ख	
खण्डित किया हो, विराधित किया हो	४/३
ग	
गर्हा करता हूं	१/२
गुप्तियों से	४/८
गुरु-अभ्युत्थान	६/४
गोचरचर्या भिक्षाचर्या	४/६
गौरवों से	४/८
ग्यारह उपासक प्रतिमाओं से	४/८
च	
चक्षुदाता	६/११
चतुर्विध आहार	६/१
चन्द्रप्रभु	२/१
चरिम	६/८
चातुष्कालिक स्वाध्याय	४/७
चौदह जीव समूह से	४/८
चौबीस देवों से	४/८
चौबीस ही	२/१
छ	
छह लेश्याओं से	४/८
ज	
जिन	२/१
जिनवर तीर्थंकर	२/१
जीवनदाता	६/११
त	
तस्स उत्तरीकरणेणं	५/३
तेतीस आशातनाओं से	४/८
तेतीस में से कोई एक भी आशातना	३/१
तेरह क्रियास्थानों से	४/८
द	
दशा, कल्प व्यवहार के छब्बीस उद्देशन कालों से	४/८
दस प्रकार के श्रमण धर्म में	४/३
दस प्रकार के श्रमण धर्म से	४/८
दान्त पीसने में	४/५
दिशामूढ़ता	६/२
दृष्टि विपर्यास	४/५
दंडों से	४/८
ध	
धर्म	२/१
धर्म के आदिकर्ता	६/११
धर्मतीर्थ के प्रवर्तक	२/१
धर्म के प्रवर चतुर्दिक्जयी चक्रवर्ती	६/११
धर्मसारथि	६/११
धर्मोपदेष्टा	६/११
ध्रुवनिग्रह	उपोद्घात
ध्यानों से	४/८
न	
नमस्कार	१/१
नमस्कार सहिता	६/१
नमि	२/१
नवों ब्रह्मचर्य गुप्तियों से	४/८
नानाघोष	उपोद्घात
नाना व्यञ्जन	उपोद्घात
निंदा करता हूं	१/२
निर्ग्रन्थों का प्रवचन	४/९
निर्विकृति	६/१०
नौ ब्रह्मचर्य गुप्ति	४/३

न्याय	उपोद्घात
प	
पच्चीस भावनाओं से	४/८
पद्मप्रभ	२/१
पन्द्रह कर्मभूमियों में	४/९
पन्द्रह परमाधार्मिक देवों से	४/८
पांच महाव्रतों से	४/८
पांच समितियों से	४/८
पान-भोजन विपर्यास	४/५
पापकारी प्रवृत्ति	१/२
पुरुषों में प्रवर गन्धहस्ती	६/११
पुरुषों में प्रवर पुंडरीक	६/११
पुरुषोत्तम	६/११
पुरुषसिंह	६/११
पारिष्ठापनिकाकार	६/४
पूर्वार्द्ध	६/३
पार्श्व	२/१
पौरुषी	६/२
प्रच्छन्नकाल	६/२
प्रतिलेखन न किया हो....प्रमार्जन न किया हो	४/७
प्रतीत्यम्रक्षित	६/१०
प्राणों का दबाया हो	४/४
ब	
बत्तीस योग संग्रहो से	४/८
बन्धनों से	४/८
बारह भिक्षु प्रतिमाओं से	४/८
बिना सोचे शीघ्रता में आहार लिया हो	४/६
बीस असमाधिस्थानों से	४/८
बुद्ध और बोधिदाता	६/११
बोधिदाता	६/११
बोधिलाभ	२/१
भ	
भन्ते	१/२
म	
मंगल	४/२
मल्लि	२/१
महत्तराकार	६/४

मार्ग	उपोद्घात
मार्गदाता	६/११
मितावग्रह	३/१
मुक्त और मुक्तिदाता	६/११
मुनिसुव्रत	२/१
मैं असंयम को छोड़ता हूं....मार्ग को स्वीकार करता हूं	४/९
य	
यमनीय	३/१
यात्रा	३/१
ल	
लोकनाथ	६/११
लोकप्रदीप	६/११
लोक में उद्योत करने वाले	६/११
व	
वर्धमान	२/१
वासुपूज्य	२/१
विकथाओं से	४/८
विमल	२/१
विराधनाओं से	४/८
विशिष्ट द्रव्य को मांगकर लिया हो	४/६
विशोधि	उपोद्घात
श	
शरणदाता	६/११
शरीर को सिकोड़ने, फैलाने में	४/५
शल्यों से	४/८
शान्ति	२/१
शीतल	२/१
श्रद्धा करता हूं, प्रतीति करता हूं...अनुपालन करता हूं	४/९
श्रमण के लिए अयोग्य	४/३
श्रुत	४/३
श्रेयांस	२/१
स	
संज्ञाओं से	४/८
संभव	२/१
संयत...प्रत्याख्यान पापकर्मा	४/९
सतरह प्रकार के असंयम से	४/८
सत्ताईस अनगार गुणों से	४/८

सब धर्मों का	३/१	सामायिक	१/२
सर्वज्ञ और सर्वदर्शी	६/११	सिद्ध	१/१
सर्वसमाधि प्रत्ययाकार	६/२	सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं....अन्त करते हैं	४/९
सहसाकार	६/१	सुपार्श्व	२/१
सातों भयस्थानों से	४/८	सुमति	२/१
सामायिक	४/३	सुविधि	२/१
सर्वकाल में होने वाली	३/१	सूत्रकृतांग के तेईस अध्ययनों से	४/८
सर्व मिथ्या उपचारों से युक्त	३/१	सोलह गाथाषोडशक से	४/८
सर्वसमाधि प्रत्ययाकार	६/२	स्त्री-विपर्यास	४/५
सागारिकाकार	६/४	स्थापित किया हुआ भोजन लिया हो	४/६
सात पिण्डैषणा	४/३	स्वप्न हेतुक आकुल-व्याकुलता	४/५
साधु	१/१	ह	
साधुवचन	६/२	हरितकाय का दबाया हो	४/४

परिशिष्ट : ४
प्रयुक्त ग्रंथ-सूची

ग्रंथ नाम	वाचना प्रमुख, लेखक, संपादक	संस्करण	प्रकाशक
१. अंगुत्तरनिकाय			पालिप्रकाशन मंडल विहार
२. अनगारधर्मामृत	पं. आशाधर	सं. १९७६	माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
३. अणुओगदाराइं	वाचनाप्रमुख : गणाधिपति तुलसी सं. आचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९९६	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.)
४. अनुयोगद्वार चूर्णि	जिनदासगणि महत्तर	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
५. अनुयोगद्वार मलधारीय वृत्ति	मलधारीय हेमचन्द्र	सन् १९३९	श्री केशरबाई ज्ञानमंदिर, पाटण
६. अनुयोगद्वार हारिभद्रीय वृत्ति	श्री हरिभद्राचार्य	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
७. अभिधान चिन्तामणि (नाममाला)	आचार्य हेमचन्द्र सं. नेमिचन्द शास्त्री	वि.सं. २०२०	चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी
८. अष्टक प्रकरण	आचार्य हरिभद्र		
९. आचारांग टीका	श्री शीलांकाचार्य सं. डॉ. शास्त्री	सन् २००१	प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
१०. आचारांग निर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु		सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बंबई
११. आयारचूला	वाचनाप्रमुख : आचार्य तुलसी सं. मुनि नथमल	सन् १९६७	श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा आगम साहित्य प्रकाशन समिति, कोलकाता
१२. आवश्यक चूर्णि	श्रीजिनदास महत्तर	सन् १९२९	श्री ऋषभदेवजी, केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
१३. आवश्यक निर्युक्ति	आचार्य भद्रबाहु	वि.सं. २०३८	श्री भैरूंलाल कन्हैयालाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुंबई
१४. आवश्यक निर्युक्ति दीपिका			
१५. उत्तरज्झयणाणि	वाचनाप्रमुख : आचार्य तुलसी सं. आचार्य महाप्रज्ञ	सन् २०००	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
१६. उत्तराध्ययन (बृहद्वृत्ति)	ले. शान्त्याचार्य	सं. १९१७	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुंबई
१७. उवासगदसाओ	वाचनाप्रमुख : गणाधिपति तुलसी प्र.सं. आचार्य महाप्रज्ञ सं. मुनि दुलहराज	सन् २०१०	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)

ग्रंथ नाम	लेखक, संपादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
१८. गणधरवाद	सं.पं. दलसुखभाई मालवणिया	सन् १९८२	राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
१९. जयधवला	वीरसेनाचार्य	सन् १९९५	जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय, भेलसा
२०. ठाणं	वाचनाप्रमुख : आचार्य तुलसी स. आचार्य महाप्रज्ञ	वि.सं. २०३३	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
२१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक	ले. भट्ट अकलंक देव सं. पं. महेन्द्र कुमार जैन	वि.सं. २००९	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
२२. तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति	वि.सं. १९८९	सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, बम्बई-२
२३. दर्शन और चिन्तन	ले.पं. सुखलालजी पं. दलसुखभाई मालवणिया	सन् १९५७	गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद
२४. दशवैकालिक अगस्त्य चूर्णि	अगस्त्यसिंह स्थविर सं. मुनि पुण्यविजय	सन् १९७३	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद
२५. दशवैकालिक जिनदासकृत चूर्णि	जिनदास महत्तर	सन् १९३३	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
२६. दशवैकालिक निर्युक्ति	ले. आचार्य भद्रबाहु	सन् १९९९	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
२७. दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति	कर्ता हरिभद्रसूरि	सन् १९३३	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड मुंबई
२८. दशाश्रुतस्कंध चूर्णि	जिनदासगणि महत्तर	वि.सं. २०११	श्री मणिविजयगणि ग्रंथमाला, भावनगर
२९. दसवेआलियं	वाचनाप्रमुख : आचार्य तुलसी प्र. सं. आचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८८	जैन विश्व भारती लाडनूं (राज.)
३०. दसाओ	वाचनाप्रमुख गणाधिपति तुलसी प्र. सं. आचार्य महाप्रज्ञ आचार्य महाश्रमण सं. मुख्यनियोजिका साध्वी विश्रुतविभा	सन् २०१४	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
३१. ध्यानशतक	हरिभद्र सूरि	सन् १९७६	वीर सेवा मंदिर, दिल्ली
३२. नंदी	वा.प्र. आचार्य तुलसी प्र.सं. आचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९९७	जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राज.)
३३. नियमसार	ले. आचार्य कुन्दकुन्द सं. बलभद्र जैन	सन् १९८७	श्री कुन्दकुन्द भारती, नई दिल्ली
३४. निशीथभाष्यम्	—	—	—
३५. पंच प्रतिक्रमण	जिनचरित्र सूरि	सन् १९८८	यतिवर्य चंपालालगणि, बीकानेर
३६. पण्णवणासुत्तं	वा.प्र. आचार्य तुलसी प्र.सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८९	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
३७. पिण्डनिर्युक्ति	सं. समणी कुसुमप्रज्ञा	सन् २००८	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
३८. प्रवचनसारोद्धार	ले. श्रीमद् नेमिचन्द्रसूरि	प्रथम संस्करण	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुंबई

ग्रंथ नाम	लेखक, संपादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
३९. प्रश्न व्याकरण वृत्ति	वृत्तिकार श्री सिद्धसेनसूरि	प्रथम संस्करण	देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, मुंबई
४०. प्राकृत व्याकरण	कर्ता हेमचन्द्र व्याख्याकार आचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९९०	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
४१. बोधपाहुड			
४२. भगवती	वा.प्र. गणाधिपति तुलसी सं. भा. आचार्य महाप्रज्ञ	सन् २०००	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
४३. भगवती आराधना	रचयिता आचार्य श्री शिवार्य	सन् १९३५	सखाराम दोशी सोलापुर, महाराष्ट्र हस्तलिखित
४४. महानिशीथ			
४५. मूलाचार	श्रीमद् वट्टकेराचार्य	सन् १९८४	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
४६. मूलाराधना	अपराजितसूरि		सोलापुर (महाराष्ट्र)
४७. यशस्तिलक (चम्पू) महाकाव्यम्	ले. श्री सोमदेवसूरि सं.पं. सुन्दरलाल शास्त्री	सन् १९७१	श्री महावीर जैन ग्रंथमाला, वाराणसी
४८. वसुनन्दि श्रावकाचार	ले. आचार्य वसुनन्दि सं. डॉ. भागचन्द्र जैन (भास्कर)	सन् १९९९	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी
४९. विशेषावश्यक भाष्य	श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	वि.नि. २४४९	दिव्य दर्शन कार्यालय कालुशा नीपोल, कालुपुर रोड, अहमदाबाद
५०. शील की नवबाड (आचार्यश्री भिक्षु कृत)	आचार्यश्री भिक्षु सं. श्रीचन्द रामपुरिया	सन् १९६१	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कोलकाता
५१. श्री पंचाशक	हरिभद्राचार्य	सन् १९७२	श्री ऋषभदेवजी केशलमलजी श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
५२. श्री भिक्षु आगम विषय कोश	वा.प्र. गणाधिपति तुलसी प्र.सं. आचार्य महाप्रज्ञ सं. साध्वी विमलप्रज्ञा साध्वी सिद्धप्रज्ञा	सन् १९९६	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
५३. श्री श्रावक आवश्यक	हंसविजय	सन् १९९६	अध्यात्म आराधना स्थल, कोल्हापुर
५४. षट्खण्डागम	पूष्पदन्त भूतबलि	सन् १९४२	सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र अमरावती महाराष्ट्र
५५. षडावश्यक	साध्वी कंचनकुमारी 'लाडनूं'	सन् २०११	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
५६. समवाओ	वा.प्र.आचार्य तुलसी सं.वि. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
५७. सूत्रकृतांग निर्युक्ति	कर्ता भद्रबाहु	सन् १९५३	श्री गोडीजी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढी, बम्बई
५८. समवायांग वृत्ति	श्री शीलांकाचार्य	सन् १९५०	श्री गोडीजी पार्श्वनाथ जैन देरासर पेढी, बम्बई
५९. सूयगडो	वा.प्र. आचार्य तुलसी सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८६	जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)

ग्रंथ नाम	लेखक, संपादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
६०. सूयगडो चूर्णि	जिनदास महत्तर	–	श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर संस्था, रतलाम
६१. स्थानांग वृत्ति	अभयदेवसूरि	सन् १९३७	सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद
६२. हेमशब्दानुशासनम्	आचार्य हेमचन्द्र	वि.सं. २००७	छगनीराम अमरचन्द शिरोलिया
६३. Sanskrit-English Dictionary	V.S. Apte	सन् १९५७	Prasad Prakashan, Pune